॥ श्रीहरिः ॥

गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा

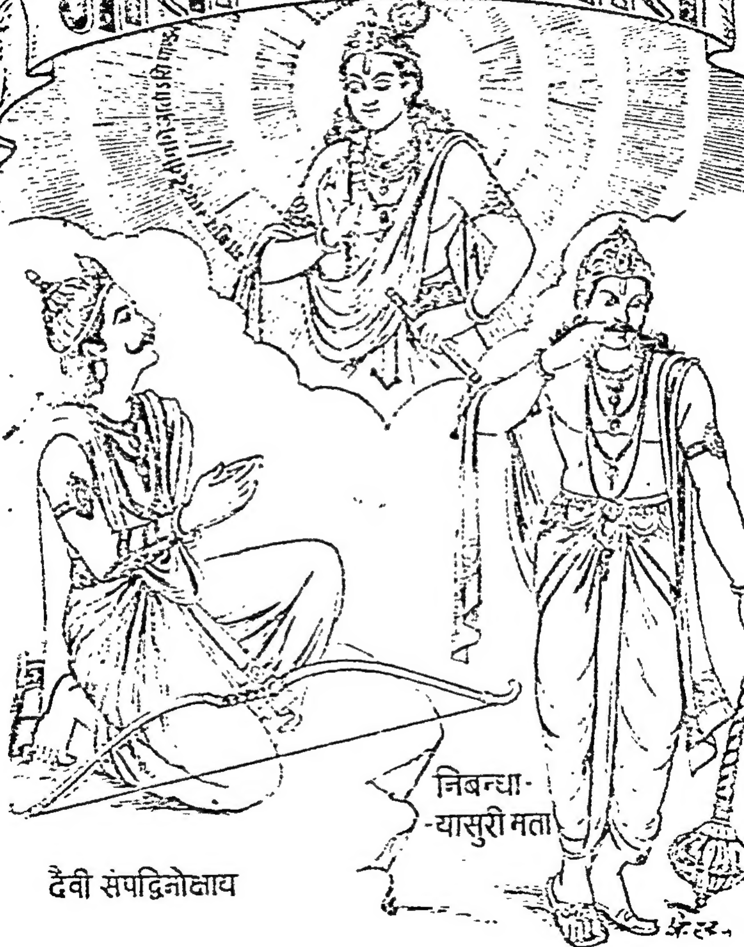


लेखक

स्वामी रामसुखदास

पूर्वार्द्ध

श्रीमद्भगवद्



दैवी अर्जुन । आसुरी दुर्योधन

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो
नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥





निवेदन

वर्तमान समय बहुत विपरीत चल रहा है! क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसे लोग प्रायः जानते ही नहीं। वे अपने वास्तविक उद्देश्यकी ओरसे अपनी आँखें मूँदकर सांसारिक भोग और संग्रहमें ही रात-दिन लगे हुए हैं। उसका परिणाम क्या होगा—इस तरफ उनकी दृष्टि ही नहीं है। नयी पीढ़ीकी तो और भी दयनीय दशा है। दैवी भावों तथा आचरणोंका ह्रास और आसुरी भावों तथा आचरणोंकी वृद्धि तेजीसे होती चली जा रही है, जिसका भविष्यमें बड़ा भयंकर परिणाम होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्यमात्रको सही मार्ग-दर्शन करानेवाला सार्वभौम महाग्रन्थ है। वर्तमान समयमें इसका सोलहवाँ, सत्रहवाँ अध्याय सर्वसाधारणके लिये, विशेषरूपसे साधकोंके लिये बहुत उपयोगी है। हमारे श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने इन दोनों अध्यायोंकी बहुत सुन्दर, सरल एवं सुबोध व्याख्या कर दी है, जिसे प्रस्तुत पुस्तकके रूपमें प्रकाशित किया गया है। इसमें आधुनिक युगको सामने रखते हुए दैवी और आसुरी भावों तथा आचरणोंका सजीव चित्रण किया गया है, जिससे पाठक दोनोंको पहचानकर आसुरी-सम्पत्तिका त्याग तथा दैवी-सम्पत्तिका ग्रहण कर सकें; क्योंकि 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'

पाठकोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि वे इस पुस्तकको स्वयं विचारपूर्वक पढ़ें और अपने मित्रों, सगे-सम्बन्धियों आदिको भी पढ़नेके लिये प्रेरित करें।

—प्रकाशक

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताकी सम्पत्ति

प्राक्कथन

भगवान्‌ने कृपा करके मानवशरीर दिया है, तो उसकी सफलताके लिये अपने भावों और आचरणोंका विशेष ध्यान रखना चाहिये। कारण कि शरीरका कुछ पता नहीं कि कब प्राण चले जायँ। ऐसी अवस्थामें जल्दी-से-जल्दी अपना उद्धार करनेके लिये दैवी-सम्पत्तिका आश्रय और आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करना बहुत आवश्यक है।

दैवी-सम्पत्तिमें 'देव' शब्द परमात्माका वाचक है और उनकी सम्पत्ति 'दैवी-सम्पत्ति' है—'देवस्येयं दैवी'। परमात्माका ही अंश होनेसे जीवमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः-स्वाभाविक है। जब जीव अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर जड प्रकृतिके सम्मुख हो जाता है अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील शरीरादि पदार्थोंका सङ्ग (तादात्म्य) कर लेता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है। कारण कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, द्वेष आदि जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब-के-सब नाशवान्‌के सङ्गसे ही पैदा होते हैं। जो प्राणोंको बनाये रखना चाहते हैं, प्राणोंमें ही जिनकी रति है, ऐसे प्राण-पोषणपरायण लोगोंका वाचक 'असुर' शब्द है—'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः'। इसलिये 'मैं सुखपूर्वक जीता रहूँ' यह इच्छा आसुरी-सम्पत्तिका खास लक्षण है।

दैवी और आसुरी-सम्पत्ति सब प्राणियोंमें पायी जाती है (१६ । ६)। ऐसा कोई साधारण प्राणी नहीं है, जिसमें ये दोनों सम्पत्तियाँ न पायी जाती हों। हाँ, इसमें जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष तो आसुरी-सम्पत्तिसे सर्वथा रहित हो जाते हैं*; पर दैवी-सम्पत्तिसे रहित कभी कोई हो ही नहीं सकता। कारण कि जीव 'देव' अर्थात् परमात्माका सनातन अंश है। परमात्माका अंश होनेसे इसमें दैवी-सम्पत्ति रहती ही है। आसुरी-सम्पत्तिकी मुख्यता होनेसे दैवी-सम्पत्ति दब-सी जाती है, मिटती नहीं; क्योंकि सत्-वस्तु कभी मिट नहीं सकती। इसलिये कोई भी मनुष्य सर्वथा दुर्गुणी-दुराचारी नहीं हो सकता, सर्वथा निर्दयी नहीं हो सकता, सर्वथा असत्यवादी नहीं हो सकता, सर्वथा व्यभिचारी नहीं हो सकता। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे किसी भी व्यक्तिमें सर्वथा हो ही नहीं सकते। कोई भी, कभी भी, कितना ही दुर्गुणी-दुराचारी क्यों न हो, उसके साथ आंशिक सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही। दैवी-सम्पत्ति प्रकट होनेपर आसुरी-सम्पत्ति मिट जाती है; क्योंकि दैवी-सम्पत्ति परमात्माकी होनेसे अविनाशी है और आसुरी-सम्पत्ति संसारकी होनेसे नाशवान् है।

---

* जीवन्मुक्त महापुरुष नाशवान्से अलग होकर अविनाशी परमात्मामें स्थित हो जाते हैं। इसलिये उनमें जीनेकी आशा और मरनेका भय नहीं रहता। वस्तुतः परमात्मामें स्थित होनेसे उनमें सद्गुण-सदाचार स्वतः-स्वाभाविक रहते हैं। दैवी-सम्पत्तिके गुण साधकके लक्षण हैं। वे सिद्ध महापुरुष तो दैवी-सम्पत्तिसे ऊपर उठे रहते हैं। अतः उनमें दैवी-सम्पत्तिके गुण स्वाभाविक होते हैं, जो साधकोंके लिये आदर्श होते हैं।

सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माका अंश होनेसे 'मैं सदा जीता रहूँ अर्थात् कभी मरूँ नहीं, मैं सब कुछ जान लूँ अर्थात् कभी अज्ञानी न रहूँ, मैं सर्वदा सुखी रहूँ अर्थात् कभी दुःखी न होऊँ'—इस तरह सत-चित्-आनन्दकी इच्छा प्राणिमात्रमें रहती है। पर उनसे गलती यह होती है कि 'मैं रहूँ तो शरीरसहित रहूँ, मैं जानकार बनूँ तो बुद्धिको लेकर जानकार बनूँ, मैं सुख लूँ तो इन्द्रियों और शरीरको लेकर सुख लूँ'—इस तरह इन इच्छाओंको नाशवान् संसारसे ही पूरी करना चाहता है। इस प्रकार प्राणीका मोह होनेसे आसुरी-सम्पत्ति रहना ही है। इसमें एक मार्मिक बात है कि प्राणीमें नित्य-निरन्तर रहनेकी इच्छा होती है, तो यह नित्य-निरन्तर रह सकता है और मैं मरूँ नहीं, यह इच्छा होती है, तो यह मरता नहीं। जीता रहना अच्छा लगता है, तो जीते रहना इसका स्वाभाविक है और मरनेसे भय लगता है, तो मरना इसका स्वाभाविक नहीं है। ऐसे ही अज्ञान बुरा लगता है, तो अज्ञान इसका साथी नहीं है। दुःख बुरा लगता है, तो दुःख इसका साथी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि इसका स्वरूप 'सत' है। 'असत' इसका स्वरूप नहीं है। सत्-स्वरूप होकर भी यह सतको क्यों चाहता है? कारण इसने नष्ट होनेवाले असत शरीरादिको 'मैं' तथा 'मेरा' मान लिया है और उनमें आसक्त हो गया है। तात्पर्य यह कि असत्को स्वीकार करनेसे स्वयं सत होते हुए भी सत्की इच्छा होती है; जड़ताको स्वीकार करनेसे स्वयं ज्ञानस्वरूप होते हुए भी ज्ञानकी इच्छा होती है; दुःखरूप संसारको स्वीकार करनेसे स्वयं सुखस्वरूप

होते हुए भी सुखकी इच्छा होती है। पर उसकी पूर्ति भी असत्-जड़-दुःखरूप संसारके द्वारा ही करना चाहता है। तादात्म्यके कारण यह शरीरको ही रखना चाहता है, बुद्धिसे ही ज्ञानी बनना चाहता है, शरीरसे ही श्रेष्ठ और सुखी बनना चाहता है, अपने नाम और रूपको ही स्थायी रखना चाहता है। अपने नामको तो मरनेके बाद भी स्थायी रखना चाहता है। इस प्रकार असत्‌के सङ्गसे आसुरी-सम्पत्ति आती है। ऐसे ही असत्‌के सङ्गका त्याग करनेसे आसुरी-सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो जाती है।

सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिके द्वारा मनुष्यमें परमात्मप्राप्ति करनेका विचार होता है, तो वह इसके लिये दैवी-सम्पत्तिको धारण करना चाहता है। दैवी-सम्पत्तिको वह कर्तव्यरूपसे उपार्जित करता है कि मुझे सत्य बोलना है, मुझे अहिंसक बनना है, मुझे दयालु बनना है, आदि-आदि। इस प्रकार जितने भी दैवी-सम्पत्तिके गुण हैं, उन गुणोंको वह अपने बलसे उपार्जित करना चाहता है। यह सिद्धान्त है कि कर्तव्यरूपसे प्राप्त की हुई और अपने बल (पुरुषार्थ) से उपार्जित की हुई चीज स्वाभाविक नहीं होती, कृत्रिम होती है। इसके अलावा अपने पुरुषार्थसे उपार्जित माननेके कारण अभिमान आता है कि मैं बड़ा सत्यभाषी हूँ, मैं बड़ा अच्छा आदमी हूँ आदि। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, सब-के-सब अभिमानकी छायामें रहते हैं और अभिम[illegible] पुष्ट होते हैं। इस वास्ते अपने उद्योगसे किया हुआ [illegible] साधन होगा, उस साधनमें अहंक[illegible] -स्यों रहेगा, [illegible] ी-सम्पत्ति

रहेगा। अतः जबतक दैवी-सम्पत्तिके लिये उद्योग करता रहेगा, तबतक आसुरी-सम्पत्ति छूटेगी नहीं। अन्तमें वह हार मान लेता है अथवा उसका उत्साह कम हो जाता है, उसका प्रयत्न मंद हो जाता है, और मान लेता है कि यह मेरे वशकी बात नहीं है। साधककी ऐसी दशा क्यों होती है? कारण कि उसने अभीतक यह जाना नहीं कि आसुरी-सम्पत्ति मेरेमें कैसे आयी? आसुरी-सम्पत्तिका कारण है—नाशवान्का सङ्ग। इसका सङ्ग जबतक रहेगा, तबतक आसुरी-सम्पत्ति रहेगी ही। वह नाशवान्के सङ्गको नहीं छोड़ता, तो आसुरी-सम्पत्ति उसे नहीं छोड़ती अर्थात् आसुरी-सम्पत्तिसे वह सर्वथा रहित नहीं हो सकता। इसलिये यदि वह दैवी-सम्पत्तिको लाना चाहे, तो नाशवान् जड़के सङ्गका त्याग कर दे। नाशवान्के सङ्गका त्याग करनेपर दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट होगी; क्योंकि परमात्माका अंश होनेसे परमात्माकी सम्पत्ति उसमें स्वतः सिद्ध है, कर्तव्यरूपसे उपार्जित नहीं करनी है।

इसमें एक और मार्मिक बात है। दैवी-सम्पत्तिके गुण स्वतः स्वाभाविक रहते हैं। इन्हें कोई छोड़ नहीं सकता। इसका पता कैसे लगे? जैसे कोई विचार करे कि मैं सत्य ही बोलूँगा तो वह उम्रभर सत्य बोल सकता है। परंतु कोई विचार करे कि मैं झूठ ही बोलूँगा, तो वह आठ पहर भी झूठ नहीं बोल सकता। सत्य ही बोलनेका विचार होनेपर वह दुःख भोग सकता है, पर झूठ बोलनेके लिये बाध्य नहीं हो सकता। परंतु झूठ ही बोलूँगा—ऐसा विचार होनेपर तो खाना-पीना, बोलना-चलना तक उसके लिये

मुश्किल हो जायगा। भूख लगी हो और झूठ बोले कि भूख नहीं है, तो जीना मुश्किल हो जायगा। यदि वह ऐसी प्रतिज्ञा कर ले कि झूठ बोलनेसे बेशक मर जाऊँ, पर झूठ ही बोलूँगा, तो यह प्रतिज्ञा सत्य हो जायगी। अतः या तो प्रतिज्ञा-भंग होनेसे सत्य आ जायगा, या प्रतिज्ञा सत्य हो जायगी। सत्य कभी छूटेगा नहीं; क्योंकि सत्य मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक है। इस तरह दैवी-सम्पत्तिके जितने भी गुण हैं, सबके विषयमें ऐसी ही बात है। वे तो नित्य रहनेवाले और स्वाभाविक हैं। केवल नाशवान्‌के सङ्गका त्याग करना है। नाशवान्‌का सङ्ग अनित्य और अस्वाभाविक है।

आसुरी-सम्पत्ति आगन्तुक है। दुर्गुण-दुराचार बिल्कुल ही आगन्तुक हैं। कोई आदमी प्रसन्न रहता है, तो लोग ऐसा नहीं कहते कि तुम प्रसन्न क्यों रहते हो? पर कोई आदमी दुःखी रहता है, तब कहते हैं कि दुःखी क्यों रहते हो? क्योंकि प्रसन्नता स्वाभाविक है और दुःख अस्वाभाविक (आगन्तुक) है। इस वास्ते अच्छे आचरण करनेवालेको कोई नहीं कहता कि तुम अच्छे आचरण क्यों करते हो? पर बुरे आचरणवालेको सब कहते हैं कि तुम बुरे आचरण क्यों करते हो? अतः सद्गुण-सदाचार स्वतः रहते हैं और दुर्गुण-दुराचार सङ्गसे आते हैं, इस वास्ते आगन्तुक हैं।

अर्जुनमें दैवी-सम्पत्ति विशेषतासे थी। जब उनमें कायरता आ गयी, तब भगवान्‌ने आश्चर्यसे कहा कि तेरेमें यह कायरता कहाँसे आ गयी! (२। २-३)। तात्पर्य यह है कि अर्जुनमें यह दोष स्वाभाविक नहीं, आगन्तुक है। पहले उनमें यह दोष था

नहीं। अर्जुन आगे कहते हैं कि जिससे निश्चित कल्याण हो, ऐसी बात कहिये—

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'। (२ । ७)
'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'। (३ । २)
'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्। (५ । १)

युद्धके प्रसङ्गमें भी अर्जुनमें 'मेरा कल्याण हो जाय' यह इच्छा है। तो इससे प्रतीत होता है कि अर्जुनके स्वभावमें पहलेसे ही दैवी-सम्पत्ति थी, नहीं तो उर्वशी-जैसी अप्सराको एकदम ठुकरा देना कोई मामूली आदमीकी बात नहीं है। वे अर्जुन विचार करते हैं कि मेरेको दैवी-सम्पत्ति प्राप्त है कि नहीं! मैं उसका अधिकारी हूँ कि नहीं? इस वास्ते उसे आश्वासन देते हुए भगवान् कहते हैं कि तू शोक मत कर; तू दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त है— 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव' (१६ । ५)।

सत् (चेतन) और असत् (जड़) के तादात्म्यसे 'अहं'-भाव पैदा होता है। मनुष्य शुभ या अशुभ कोई भी काम करता है, तो अपने अहंकारको लेकर करता है। जब वह परमात्माकी तरफ चलता है, तब उसके अहंभावमें सत्-अंशकी मुख्यता होती है, और जब संसारकी तरफ चलता है, तब उसके अहंभावमें नाशवान् असत्-अंशकी मुख्यता होती है। सत्-अंशकी मुख्यता होनेसे वह दैवी-सम्पत्तिका अधिकारी कहा जाता है, और असत्-अंशकी मुख्यता होनेसे वह उसका अनधिकारी कहा जाता है। असत्-अंशको मिटानेके लिये ही मानव-शरीर मिला है। अतः मनुष्य निर्बल नहीं है,

पराधीन नहीं है, अपितु यह सर्वथा सबल है, स्वाधीन है। नाशवान् असत्-अंश तो सबका मिटता ही रहता है, पर वह उससे अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। यह भूल होती है। नाशवान्से सम्बन्ध बनाये रखनेके कारण आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा अभाव नहीं होता।

अहंभाव नाशवान् असत्के सम्बन्धसे ही होता है। असत्का सम्बन्ध मिटते ही अहंभाव मिट जाता है। प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे ही अहंभाव है। अहंमें जड़-चेतन दोनों हैं। तादात्म्य होनेसे पुरुष (चेतन) ने जड़के साथ अपनेको एक मान लिया। भोग-पदार्थोंकी सब इच्छाएँ असत्-अंशमें ही रहती हैं। परंतु सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुष हेतु बनता है—'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते' (१३ । २०)। वास्तवमें हेतु है नहीं; क्योंकि वह प्रकृतिस्थ होनेसे ही भोक्ता बनता है—'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते' (१३ । २१)*। अतः सुख-दुःखरूप जो विकार होता है, वह मुख्यतासे जड़-अंशमें ही होता है। परंतु तादात्म्य होनेसे उसका परिणाम ज्ञाता चेतनपर होता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। जैसे विवाह होनेपर स्त्रीकी जो आवश्यकता होती है, वह अपनी आवश्यकता कहलाती है। पुरुष जो गहने आदि खरीदता है, वह स्त्रीके सम्बन्धसे ही (स्त्रीके लिये) खरीदता है, नहीं तो उसे अपने

---

* वास्तवमें पुरुष पर है—'पुरुषः परः' (१३ । २२)। इससे सिद्ध होता है कि भोक्तापन इसमें है नहीं। केवल सम्बन्धके कारण ही वह इसमें माना जाता है। 'अपि न करोति न लिप्यते' (१३ । ३१) से भी यही बात सिद्ध होती है।

लिये गहने आदिकी आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही जड़-अंशके सम्बन्धसे ही चेतनमें जड़की इच्छा और जड़का भोग होता है। जड़का भोग जड़-अंशमें ही होता है, पर जड़से तादात्म्य होनेसे भोगका परिणाम केवल जड़में नहीं हो सकता अर्थात् सुख-दुःखका भोक्ता केवल जड़-अंश नहीं बन सकता। परिणामका ज्ञाता चेतन ही भोक्ता बनता है। जैसे ज्वर शरीरको आता है, पर मान लेता है कि मुझे ज्वर आ गया। स्वयंमें ज्वर नहीं होता*। यदि होता, तो कभी मिटता नहीं। जितनी क्रियाएँ होती हैं, सब प्रकृतिमें होती हैं (३ । २७, १३ । २९), पर तादात्म्यके कारण चेतन उन्हें अपनेमें मान लेता है कि मैं कर्ता हूँ।

तादात्म्य होनेपर भी मुक्ति (कल्याण) की इच्छामें चेतनकी मुख्यता और भोगोंकी इच्छामें जड़की मुख्यता होती है; इसलिये अन्तमें कल्याणका भागी चेतन ही होता है, जड़ नहीं। विकृतिमात्र जड़में ही होती है, चेतनमें नहीं। चेतन सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु इसलिये कहा जाता है कि सुखी-दुःखी होना केवल जड़में नहीं होता। परंतु सुख-दुःखरूप विकार तो केवल जड़में ही होता है। वास्तवमें सुखी-दुःखी 'होना' चेतनका धर्म नहीं है, अपितु जड़के सङ्गसे अपनेको सुखी-दुःखी 'मानना' ज्ञाता चेतनका स्वभाव है। नहीं तो एक चेतनमें सुख-दुःखरूप एक-एकसे विरुद्ध दो भाव कैसे

---

* आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
(बृहदारण्यक० ४ । ४ । १२)

हो सकते हैं? दो रूप परिवर्तनशील प्रकृतिमें ही हो सकते हैं। जो परिवर्तनशील नहीं है, उसके दो रूप नहीं हो सकते। तात्पर्य यह कि सब विकार परिवर्तनशीलमें ही हो सकते हैं। चेतन ज्यों-का-त्यों रहता है, पर परिवर्तनशील प्रकृतिके सङ्गसे वह उसके विकारोंको अपनेमें आरोपित करता रहता है। यह सबका अनुभव है कि हम सुखमें दूसरे तथा दुःखमें दूसरे नहीं हो जाते। सुख और दुःख दोनों अलग-अलग चीजें हैं, पर हम एक ही रहते हैं। तभी कभी सुखी होते हैं, कभी दुःखी होते हैं।

इस प्रकार सुख-दुःखरूप विकार तो जड़में होता है, पर जड़के सम्बन्धसे चेतन अपनेमें मान लेता है। जैसे, घाटा लगता है दुकानमें, पर दुकानदार कहता है कि मुझे घाटा लग गया। अतः जड़से तादात्म्य माननेके बाद ही प्रश्न होता है कि दोनोंमें सुख-दुःखरूप विकार किसमें होते हैं? तो सुख-दुःखका परिणाम चेतन-पर होता है, तभी वह सुख-दुःखसे मुक्ति चाहता है। यदि वह सुखी-दुःखी न होवे, तो उसमें मुक्तिकी इच्छा हो ही नहीं सकती। मुक्तिकी इच्छा जड़के सम्बन्धसे ही हुई है; क्योंकि जड़को स्वीकार करनेसे ही बन्धन हुआ है। जो अपनेको सुखी-दुःखी मानता है, वही सुख-दुःखरूप विकारसे अपनी मुक्ति चाहता है, और उसीकी मुक्ति होती है। इसलिये मुक्तिकी इच्छा केवल चेतन-अंशमें भी नहीं होती, और केवल जड़-अंशमें भी नहीं होती। तादात्म्यमें चेतन (परमात्मा) की इच्छामें चेतनकी मुख्यता और जड़ (संसार) की इच्छामें जड़की मुख्यता रहती है। जब चेतनकी मुख्यता रहती है,

तब दैवी-सम्पत्ति आती है और जब जड़की मुख्यता रहती है, तब आसुरी-सम्पत्ति आती है। जड़से तादात्म्य रहनेपर भी सत्, चित् और आनन्दकी इच्छा चेतनमें ही रहती है। संसारकी ऐसी कोई इच्छा नहीं है, जो इन तीन (सदा रहना, सब कुछ जानना और सदा सुखी रहना) इच्छाओंमें सम्मिलित न हो। इससे गल्ती यह होती है कि इन इच्छाओंकी पूर्ति जड़ (संसार)-के द्वारा करना चाहता है।

जड़को और आसुरी-सम्पत्तिको स्वयं (चेतन) ने स्वीकार किया है। जड़में यह ताकत नहीं है कि वह स्वयंके साथ स्थिर रह जाय। जड़में तो हरदम परिवर्तन होता रहता है। चेतन उसे न पकड़े, तो वह अपने-आप छूट जायगा। कारण कि चेतनमें कभी विकार नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। पर असत् प्रकृति नित्य-निरन्तर, हरदम बदलती रहती है। वह कभी एकरूप रह ही नहीं सकती। चेतनने प्रकृतिके साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। उस सम्बन्धकी सत्ता यह 'मैं' और 'मेरे'—रूपसे स्वीकार कर लेता है। इस वास्ते जड़का सम्बन्ध और उससे पैदा होनेवाली आसुरी-सम्पत्ति आगन्तुक है। यदि यह स्वयंमें होती, तो इसका कभी नाश नहीं होता; क्योंकि स्वयंका कभी नाश नहीं होता और आसुरी-सम्पत्तिके त्यागकी बात ही नहीं होती। अनित्य होनेपर भी चेतनके सम्बन्धसे यह नित्य दीखने लगती है। अविनाशीके सम्बन्धसे विनाशी भी अविनाशीकी तरह दीखने लगता है। इसलिये जिस मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्ति होती है, वृ— —पुरी-

सम्पत्तिका त्याग कर सकता है, और कल्याणका आचरण करके परमात्माको प्राप्त हो सकता है (१६ । २२, २ । ६४-६५)।

परमात्माके सम्मुख होते ही आसुरी-सम्पत्ति मिटने लगती है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
(मानस ५ । ४३ । १)

कारण कि 'जन्म कोटि अघ' प्रकृतिसे सम्बन्ध स्वीकार करनेसे ही हैं। प्रकृतिको स्वीकार न करें, तो फिर कैसे जन्म-मरण होगा ? जन्म-मरणमें कारण प्रकृतिसे सम्बन्ध ही है—'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (१३ । २१)। परंतु प्रकृतिकी क्रिया (कर्तृत्व) को अपनेमें मान लेता है, और प्रकृतिके कार्य शरीरमें 'मैं-मेरापन' कर लेता है, जिससे जन्मता-मरता रहता है। वास्तवमें यह कर्ता भी नहीं है और लिप्त भी नहीं है—'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (१३ । ३१)। इस वास्तविकताका अनुभव करना ही 'कर्ममें अकर्म' तथा 'अकर्ममें कर्म' देखना है। इन दोनों बातोंका अभिप्राय यह है कि कर्म करते हुए भी यह सर्वथा निर्लिप्त तथा अकर्ता है, और निर्लिप्त तथा अकर्ता रहते हुए ही यह कर्म करता है अर्थात् कर्म करते समय और कर्म न करते समय यह (आत्मा) नित्य-निरन्तर निर्लिप्त तथा अकर्ता रहता है। इस वास्तविकताका अनुभव करनेवाला ही मनुष्योंमें बुद्धिमान् है (४ । १८)। जिसमें कर्तापनका भाव नहीं है और जिसकी

बुद्धिमें लिपता नहीं है अर्थात् कोई भी कामना नहीं है, वह यदि सब लोकोंको मार दे, तो भी पाप नहीं लगता (१८ । १७)। अर्जुनने पूछा कि मनुष्य किससे प्रेरित होकर पाप करता है ? तो भगवान्‌ने कहा—कामनासे (३ । ३६-३७)। कामनाके कारण ही सब पाप होते हैं। शरीरके तादात्म्यसे भोग और संग्रहकी कामना होती है*। अतः जड़का सङ्ग (महत्त्व) ही सम्पूर्ण पापोंका—आसुरी-सम्पत्तिका कारण है। जड़का सङ्ग न हो, तो दैवी-सम्पत्ति स्वतःसिद्ध है।

अर्जुन साधकमात्रके प्रतिनिधि हैं। इसलिये अर्जुनके निमित्तसे भगवान् साधकमात्रको आश्वासन देते हैं कि चिन्ता मत करो; अपनेमें आसुरी-सम्पत्ति दीख जाय, तो घबराओ मत; क्योंकि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः-स्वाभाविक विद्यमान है—

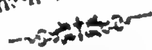
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥
(१६ । ५)

तात्पर्य यह हुआ कि साधकको पारमार्थिक उन्नतिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि परमात्माका ही अंश होनेसे

* कोई भी मनुष्य अपनेको दोषी बनाना पसंद नहीं करता; क्योंकि इस लोकमें दोषीका अपमान, तिरस्कार और निन्दा होती है तथा परलोकमें चौरासी लाख योनियाँ तथा नरक भोगने पड़ते हैं। परंतु मनुष्य नाशवान् जड़के सङ्गसे पैदा हुई कामनाके वशीभूत होकर न करनेलायक शास्त्र-निषिद्ध क्रिया कर बैठता है। तो उस क्रियाका परिणाम कर्ता (मनुष्य)की रुचिके (मैं निर्दोष रहूँ—इसके) अनुसार नहीं होता और कर्ता (अपनी रुचिके विरुद्ध) दोषी तथा पापी बन जाता है।

...त्रमें परमात्माकी सम्पत्ति (दैवी-सम्पत्ति) रहती ही है ।
...प्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट हो
...है ।

परमात्माका अंश होनेके नाते साधकको परमात्मप्राप्तिसे कभी
...श नहीं होना चाहिये; क्योंकि परमात्माने कृपा करके मनुष्य-
...ार अपनी प्राप्तिके लिये ही दिया है । इसलिये परमात्माका संकल्प
... हमारे कल्याणका ही है । यदि हम अपना अलग कोई संकल्प
...न रखें, अपितु परमात्माके संकल्पमें ही अपना संकल्प मिला दें, तो
फिर उनकी कृपासे स्वतः कल्याण हो ही जाता है ।



सोलहवें अध्यायके प्रधान तथा संक्षिप्त विषय

प्रधान विषय

इस सोलहवें अध्यायमें कुल चौबीस श्लोक हैं और उनके पाँच प्रकरण हैं । पहलेसे पाँचवें श्लोकतकके पहले प्रकरणमें फलसहित दैवी और आसुरी-सम्पदाका वर्णन है । छठेसे आठवें श्लोकतकके दूसरे प्रकरणमें सत्कर्मोंसे विमुख हुए आसुरी-सम्पदा-वालोंकी मान्यताओंका कथन है । नवेंसे सोलहवें श्लोकतकके तीसरे प्रकरणमें आसुरी प्रकृतिवालोंके फलसहित दुराचारोंका और मनोरथोंका वर्णन हुआ है । सत्रहवेंसे बीसवें श्लोकतकके चौथे प्रकरणमें आसुरी-सम्पदावालोंके दुर्भाव और दुर्गतिका वर्णन है । इक्कीसवेंसे चौबीस... श्लोकतकके पाँचवें प्रकरणमें आसुरी-सम्पदाके मूलभूत दोष का... क्रोध और लोभसे रहित होकर शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करने... प्रेरणा की गयी है ।

संक्षिप्त विषय

पहले श्लोकमें नौ, दूसरे श्लोकमें ग्यारह और तीसरे श्लोकमें छः—इस प्रकार दैवी-सम्पत्तिके छब्बीस लक्षणोंका और चौथे श्लोकमें आसुरी-सम्पत्तिके छः लक्षणोंका वर्णन करके पाँचवें श्लोकमें दोनोंका क्रमशः मुक्ति और बन्धनरूप सामान्य फल बताया है।

छठे श्लोकमें आसुरी-सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन सुननेकी आज्ञा, सातवें श्लोकमें आसुरी-सम्पदावालोंके विवेकरहित आचारका और आठवें श्लोकमें आसुरी प्रकृतिवालोंकी मान्यताओंका वर्णन है।

नवेंसे बारहवें श्लोकतक नास्तिक दृष्टि, दुष्पूर काम और अपार चिन्ताओंका आश्रय लेनेवालोंके मोहजनित दुराचारोंका वर्णन है। तेरहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक क्रमशः लोभ, क्रोध और अभिमानको लेकर किये जानेवाले मनोरथोंका वर्णन है। सोलहवें श्लोकमें आसुरी-सम्पदावालोंके पूर्वोक्त दुराचारोंका फल घोर नरककी प्राप्ति बताया है।

सत्रहवें श्लोकमें अभिमान और दम्भपूर्वक नाममात्रका यज्ञ करनेवालोंका, अठारहवें श्लोकमें दुर्भावोंके आश्रित रहनेवाले तथा परमात्माके साथ द्वेष एवं दोषदृष्टि रखनेवालोंका और उन्नीसवें-बीसवें श्लोकोंमें उन द्वेष करनेवाले क्रूरकर्मा नराधमोंको भगवान्‌की प्राप्ति न होकर बार-बार आसुरी-योनि और उससे भी अधम गति—नरककी प्राप्तिका वर्णन है।

इक्कीसवें-बाईसवें श्लोकोंमें आसुरी-सम्पदाके मूलभूत दोष—काम, क्रोध और लोभका तथा इनके त्यागका महत्त्व बताया। तेईसवें श्लोकमें मनमाने ढंगसे कर्म करनेवालेको सिद्धि, सुख तथा परमगतिके प्राप्त न होनेकी बात कहकर चौबीसवें श्लोकमें शास्त्रोंके अनुसार कर्म करनेकी प्रेरणा की है।

श्रीहरिः

अनुक्रमणिका

(सोलहवाँ अध्याय)



श्रीहरिः

अनुक्रमणिका

(सोलहवाँ अध्याय)



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताकी सम्पत्ति

अथ षोडशोऽध्यायः

[पूर्वार्द्ध]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

सम्बन्ध—

श्रीभगवान्‌ने गीतामें सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें '*दुष्कृतिनो मूढाः आसुरं भावमाश्रिताः मां न प्रपद्यन्ते*' (बुरे कर्म करनेवाले तथा आसुरी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ मनुष्य मेरा भजन नहीं करते) पदोंसे आसुरी-सम्पत्तिवालोंका और सोलहवें श्लोकमें '*सुकृतिनः मां भजन्ते*' (पुण्यकर्मा लोग मेरा भजन करते हैं) पदोंसे दैवी-सम्पत्तिवालोंका बीजरूपसे स्वरूप बताकर सातवें अध्यायको पूरा किया । सातवें अध्यायके अन्तिम दो श्लोकोंपर अर्जुनने आठवें अध्यायके प्रारम्भमें सात प्रश्न किये । अतः भगवान्‌ने आठवाँ अध्याय उन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए पूरा किया ।

भगवान्‌ने सातवें अध्यायके प्रारम्भमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसी विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेके लिये नवाँ अध्याय प्रारम्भ किया । इस नवें अध्यायके

बारहवें श्लोकमें भी 'राक्षसीमासुरीं चैवं प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' पदोंसे आसुरी सम्पदावालोंका और तेरहवें श्लोकमें 'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः मां भजन्ते' पदोंसे दैवी-सम्पदावालोंका संक्षेपसे वर्णन करके दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञान-विज्ञानके विषयको भगवान् कहते ही गये।

दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकके बाद भगवान्‌को दैवी-आसुरी सम्पदाओंका विस्तारसे वर्णन करना चाहिये था, पर भगवान्‌के प्रभावसे प्रभावित होकर अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति की एवं पुनः विभूति कहनेके लिये उनसे प्रार्थना की। विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें अर्जुनसे कहा कि 'तुझे अधिक जाननेसे क्या मतलब? मैं तो सारे संसारको एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ।' इसपर उस रूपको (जिसके एक अंशमें सारा संसार स्थित है) देखनेके लिये उत्सुक हुए अर्जुनने ग्यारहवें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्‌से अपना विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना की।

अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाकर भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें-पचपनवें श्लोकोंमें अनन्यभक्तिकी महिमा एवं उसका स्वरूप बताया। इसपर सगुण एवं निर्गुण-उपासकोंकी श्रेष्ठता के विषयमें अर्जुनने बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें प्रश्न किया। अतः भगवान्‌ने बारहवें अध्यायमें सगुण-उपासकों-का वर्णन करके तेरहवें अध्यायसे लेकर चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक निर्गुण-विषयका वर्णन किया। फिर अर्जुनने चौदहवें अध्याय के

*

इक्कीसवें श्लोकमें गुणातीतके लक्षण, आचरण एवं गुणातीत होनेका उपाय पूछा। उन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने छब्बीसवें श्लोकमें 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' पदोंसे अव्यभिचारिणी भक्तिको गुणातीत होनेका उपाय बताया अर्थात् अव्यभिचारसे दैवी-सम्पत्तिका और व्यभिचारसे आसुरी-सम्पत्तिका संकेत किया। यह अव्यभिचारी भक्ति कैसे प्राप्त हो—यह बतानेके लिये पंद्रहवें अध्यायका प्रारम्भ हुआ।

पंद्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' पदोंसे आसुरी-सम्पत्तिके कारणरूप सङ्ग (संसारकी आसक्ति) का त्याग करके असङ्गतासे प्रकट होनेवाली दैवी-सम्पत्तिकी बात कही। फिर चौथे श्लोकमें 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' पदोंसे शरणागतिरूप दैवी-सम्पत्तिका वर्णन किया और अर्थान्तरमें जो शरण नहीं होते उन आसुरी-सम्पत्तिवालोंका संकेत किया। फिर उन्नीसवें श्लोकमें 'स सर्वविद् असम्मूढः मां सर्वभावेन भजति' पदोंसे दैवी-सम्पदावालोंका अर्थात् अधिकारियोंका वर्णन किया और अर्थान्तरमें जो भगवान्‌का भजन नहीं करते' उन आसुरी-सम्पदा-वालोंका अर्थात् अनधिकारियोंका वर्णन किया।

इस प्रकार अर्जुनके अन्य प्रश्नोंके कारण अबतक भगवान्‌को दैवी और आसुरी-सम्पदापर विस्तारसे कहनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ। अब अर्जुनका कोई प्रश्न न रहनेसे भगवान् दैवी और आसुरी-सम्पदाका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं।

पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि 'जो मुझे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सब प्रकारसे मुझे ही भजता है अर्थात् वह मेरा अनन्य भक्त हो जाता है ।' इस प्रकार एकमात्र भगवान्‌का उद्देश्य होनेपर साधकमें दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट होने लग जाती है । अतः भगवान् पहले तीन श्लोकोंमें क्रमशः भाव, आचरण और प्रभावको लेकर दैवी-सम्पत्तिका वर्णन करते हैं—

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

व्याख्या—

'अभयम्'*—अनिष्टकी आशङ्कासे मनुष्यके भीतर जो घबराहट होती है, उसका नाम भय है और उस भयके सर्वथा अभावका नाम 'अभय' है ।

भय दो रीतिसे होता है—(१) बाहरसे और (२) भीतरसे ।

(१) बाहरसे आनेवाला भय—

(क) चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प आदि प्राणियोंसे जो भय होता है, वह बाहरका भय है । यह भय शरीर-नाशकी आशङ्कासे

---

* यहाँ दैवी-सम्पत्तिमें सबसे पहले 'अभयम्' पद देनेका तात्पर्य यह है कि जो भगवान्‌के शरण होकर सर्वभावसे भगवान्‌का भजन करता है, वह सर्वत्र अभय हो जाता है । भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वाल्मीकि० ६ । १८ । ३३)

ही होता है। परंतु जब यह अनुभव हो जाता है कि यह शरीर नाशवान् है और जानेवाला ही है, तो फिर भय नहीं होता।

बीड़ी-सिगरेट, अफीम, भाँग, शराब आदिके व्यसनोंको छोड़नेका एवं व्यसनी मित्रोंसे अपनी मित्रता टूटनेका जो भय लगता है, वह मनुष्यकी अपनी कायरतासे ही होता है। कायरता छोड़नेसे यह भय नहीं रहता।

(ख) अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार कर्तव्य-पालन करते हुए उसमें भगवान्की आज्ञासे विरुद्ध कोई काम न हो जाय, हमें विद्या पढ़ानेवाले, अच्छी शिक्षा देनेवाले आचार्य, गुरु, सन्त-महात्मा, माता-पिता आदिके वचनोंकी, आज्ञाकी अवहेलना न हो जाय, हमारे द्वारा शास्त्र और कुलमर्यादाके विरुद्ध कोई आचरण न बन जाय—इस प्रकारके भय भी बाहरी भय कहलाते हैं। परंतु यह भय वास्तवमें भय नहीं है। यह तो अभय बनानेवाला भय है। ऐसा भय तो साधकके जीवनमें होना ही चाहिये। यह भय होनेसे ही वह अपने मार्गपर ठीक तरहसे चल सकता है। कहा भी है—

हरि-डर गुरु-डर, जगत्-डर, डर करनी में सार।
रज्जब डर्‌या सो ऊबर्‌या गाफिल खायी मार॥

(२) भीतरसे पैदा होनेवाला भय—

(क) मनुष्य जब पाप, अन्याय, अत्याचार आदि निषिद्ध आचरण करना चाहता है, तब (उनको करनेकी भावना मनमें आते ही) भीतरसे भय पैदा होता है। मनुष्य निषिद्ध आचरण तभीतक करता है, जबतक उसके मनमें 'मेरा शरीर बना रहे, मेरा मान-सम्मान होता रहे, मुझे सांसारिक भोग-पदार्थ मिलते रहें'

इस प्रकार सांसारिक जड़ वस्तुओंकी प्राप्तिका और उनकी रक्षाका उद्देश्य रहता है।* पर जब मनुष्यका एकमात्र उद्देश्य चिन्मय-तत्त्वको प्राप्त करनेका हो जाता है†, तब उसके द्वारा अन्याय, दुराचार छूट जाते हैं और वह सर्वथा अभय हो जाता है। कारण कि उसके लक्ष्य परमात्मतत्त्वमें कभी कमी नहीं आती और वह कभी नष्ट नहीं होता।

(ख) जब मनुष्यके आचरण ठीक नहीं होते एवं वह अन्याय, अत्याचार आदिमें लगा रहता है तब उसे भय लगता है

---

* भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मानेदैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥
(भर्तृहरिवैराग्यशतक)

भोगोंमें रोगका भय, ऊँचे कुलमें गिरनेका भय, धनमें राजाका भय, मानमें दीनताका भय, बलमें शत्रुका भय, रूपमें बुढ़ापेका भय, शास्त्रमें वाद-विवादका भय, गुणमें दुर्जनका भय और शरीरमें मृत्युका भय है। इस प्रकार संसारमें मनुष्योंके लिये सम्पूर्ण वस्तुएँ भयावह हैं, एक वैराग्य ही भयसे रहित है।

तात्पर्य यह है कि ये सांसारिक वस्तुएँ कहीं नष्ट न हो जायँ—इसका मनुष्यको सदा भय रहता है। इसलिये वह अभय नहीं हो पाता।

† उद्देश्य तो पहलेसे ही बना हुआ है उसके बाद हमें मनुष्य-शरीर मिला है। अतः उद्देश्यको केवल पहचानना है, बनाना नहीं है।

जैसे, रावणसे मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस आदि सभी डरते थे, पर वही रावण जब सीताका हरण करनेके लिये जाता है, तब वह डरता है।* ऐसे ही कौरवोंकी अठारह अक्षौहिणी सेनाके बाजे बजे, तो उसका पाण्डव सेनापर कुछ भी असर नहीं हुआ (१ । १३), पर जब पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाके बाजे बजे, तो कौरव-सेनाके हृदय विदीर्ण हो गये (१ । १९)। तात्पर्य यह कि अन्याय, अत्याचार करनेवालोंके हृदय कमजोर हो जाते हैं। इस कारण वे भयभीत होते हैं। जब मनुष्य अन्याय आदिको छोड़कर अपने आचरणों एवं भावोंको शुद्ध बनाता है, तो उसका भय मिट जाता है।

(ग) मनुष्य-शरीर प्राप्त करके यह जीव जबतक करनेयोग्य-को नहीं करता, जाननेयोग्यको नहीं जानता और पानेयोग्यको नहीं पाता, तबतक वह सर्वथा अभय नहीं हो सकता, उसके जीवनमें भय रहता ही है।

भगवान्‌की तरफ चलनेवाला साधक भगवान्‌पर जितना-जितना अधिक विश्वास—भरोसा करता है और उनके आश्रित होता चला जाता है, उतना-ही-उतना वह अभय होता चला जाता है। उसमें स्वतः यह विचार आता है कि मैं तो परमात्माका

---

* सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती कें बेषा॥
जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥
(मानस ३। २७। ४-५)

अंश हूँ; अतः कभी नष्ट होनेवाला नहीं हूँ, तो फिर भय किस बातका ?* और संसारके अंश शरीर आदि सब पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं, तो फिर भय किस बातका ? ऐसा विवेक स्पष्टरूपसे प्रकट होनेपर भय स्वतः नष्ट हो जाता है और साधक सर्वथा अभय हो जाता है।

'सत्त्वसंशुद्धिः'—अन्तःकरणकी सम्यक्-शुद्धिको सत्त्वसंशुद्धि कहते हैं। सम्यक् शुद्धि क्या है ? संसारसे रागरहित होकर भगवान्में अनुराग हो जाना ही अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि है। जब अपना विचार, भाव, उद्देश्य, लक्ष्य केवल एक परमात्माकी प्राप्तिका हो जाता है, तब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। कारण कि नाशवान् वस्तुओंकी प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे ही अन्तःकरणमें मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन तरहके दोष आते हैं। शास्त्रोंमें मल-दोषको दूर करनेके लिये निष्कामभावसे कर्म (सेवा), विक्षेप-दोषको दूर करनेके लिये उपासना और आवरण-दोषको दूर करनेके लिये ज्ञान बताया है। यह होनेपर भी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये सबसे बढ़िया उपाय है—अन्तःकरणको अपना न

कि जो साधन कर रहा है, उसीमें उत्साह और तत्परतापूर्वक लगा रहे, तो उसके ज्ञान-अज्ञात सब पाप दूर होकर अन्तःकरण स्वतः शुद्ध हो जायगा।

साधकमें ऐसी एक भावना बन जाती है कि साधन-भजन करना अलग काम है और व्यापार-धंधा आदि करना अलग काम है—ये अलग-अलग दो विभाग हैं; इसलिये व्यापार आदि व्यवहारमें झूठ-कपट आदि तो करने ही पड़ते हैं। ऐसी जो छूट ली जाती है, उससे अन्तःकरण बहुत ही अशुद्ध होता है। साधनके साथ-साथ जो असाधन होता रहता है, उससे साधनमें जल्दी उन्नति नहीं होती। इसलिये साधकको सदा सावधान रहना चाहिये अर्थात् नया पाप कभी न बने—ऐसी सावधानी सदा-सर्वदा बनी रहनी चाहिये।

साधक भूलसे किये हुए दुष्कर्मोंके अनुसार अपनेको दोषी मान लेता है और अपना बुरा करनेवाले व्यक्तिको भी दोषी मानने लगता है, जिससे उसका अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है। उस अशुद्धिको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह भूलसे की हुई दुष्प्रवृत्तिको पुनः कभी न करनेका दृढ़ व्रत ले ले तथा अपना बुरा करनेवाले व्यक्तिके अपराधको क्षमा माँगे बिना ही क्षमा कर दे और भगवान्‌से प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! मेरा जो कुछ बुरा हुआ है; वह तो मेरे दुष्कर्मोंका ही फल है। वह बेचारा तो मुफ्तमें ही ऐसा कर बैठा है। उसका इसमें कोई दोष नहीं है। आप उसे क्षमा कर देंगे।' ऐसा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'—ज्ञानके लिये योगमें स्थित होना र्थात् परमात्मतत्त्वका जो ज्ञान (बोध) है, वह चाहे सगुणका ी या निर्गुणका, उस ज्ञानके लिये योगमें स्थित होना आवश्यक है। योगका अर्थ है सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें, मान-अपमानमें, निन्दा-स्तुतिमें, रोग-नीरोगतामें सम रहना अर्थात् अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि न होकर निर्विकारतामें स्थित रहना।

'दानम्'—लोकदृष्टिमें जिन वस्तुओंको अपना माना जाता है, उन वस्तुओंको सत्पात्रका तथा देश, काल, परिस्थिति आदिका विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार दूसरोंको वितीर्ण कर देना 'दान' है। दान कई तरहके होते हैं; जैसे भूमिदान, गोदान, स्वर्णदान, अन्नदान, वस्त्रदान आदि। इन सबमें अन्नदान प्रधान है। परंतु इससे भी अभयदान प्रधान (श्रेष्ठ) है* उस अभयदानके दो भेद होते हैं—

(१) संसारकी आफतसे, विघ्नोंसे, परिस्थितियोंसे भयभीत हुएको अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार भय-रहित करना, उसे आश्वासन देना, उसकी सहायता करना। यह अभयदान उसके शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको लेकर होता है।

(२) संसारमें फँसे हुए व्यक्तिको जन्म-मरणसे रहि

---

* न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ॥ (पञ्चतन्त्र)

करनेके लिये भगवान्की कथा आदि सुनाना* । गीता, रामाय
भागवत आदि ग्रन्थोंको एवं उनके भावोंको सरल भाषामें छपवाक
सस्ते दामोंमें लोगोंको देना अथवा कोई समझना चाहे तो उसको
समझाना, जिससे उसका कल्याण हो जाय । ऐसे दानसे
भगवान् बहुत राजी होते हैं (गीता १८ । ६८-६९); क्योंकि
भगवान् ही सबमें परिपूर्ण हैं । अतः जितने अधिक जीवोंका
कल्याण होता है, उतने ही अधिक भगवान् प्रसन्न होते हैं । यह
सर्वश्रेष्ठ अभयदान है । इसमें भी भगवत्सम्बन्धी बातें दूसरोंको सुनाते
समय साधक वक्ताको यह सावधानी रखनी चाहिये कि वह
दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता न माने, अपितु इसमें भगवान्की
कृपा माने कि भगवान् ही श्रोताओंके रूपमें आकर मेरा समय
सार्थक कर रहे हैं ।

ऊपर जितने दान बताये हैं, उनके साथ अपना सम्बन्ध
जोड़कर साधक ऐसा माने कि अपने पास वस्तु, सामर्थ्य, यो

* तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३१ । ९

'हे प्रभो ! आपका कथामृत संसारमें जो संतप्त प्राणी हैं, उन
न देनेवाला, शान्ति देनेवाला है, अच्छे-अच्छे महापुरुष भी उसक
से वर्णन करते हैं, वह सम्पूर्ण पापोंका अर्थात् भगवद्-विमुखताका
करनेवाला है, कानोंमें पड़ते ही सब तरहसे मङ्गल-ही-मङ्गल देनेवाला
त-महापुरुषोंके द्वारा उसका विस्तारसे वर्णन किया गया है । ऐसे
का पृथ्वीपर जो कथन करते हैं, वे संसारको बहुत विशेषतासे
नेवाले हैं अर्थात् संसारका सबसे अधिक उपकार, हित करनेवाले

आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌ने दूसरोंकी सेवा करनेके लिये मुझे निमित्त बनाकर दिया है । अतः भगवत्प्रीत्यर्थ आवश्यकतानुसार जिस किसीको जो कुछ दिया जाय, वह सब उसीका समझकर उसे देना दान है (गीता १७ । २०)।

'दमः'—इन्द्रियोंको पूरी तरह वशमें करनेका नाम 'दम' है। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों, अन्तःकरण और शरीरसे कोई भी प्रवृत्ति शास्त्रनिषिद्ध नहीं होनी चाहिये । शास्त्रविहित प्रवृत्ति भी अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही होनी चाहिये । इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे इन्द्रियलोलुपता, आसक्ति और पराधीनता नहीं रहती एवं शरीर और इन्द्रियोंके बर्ताव शुद्ध, निर्मल होते हैं । तात्पर्य यह कि उसका उद्देश्य इन्द्रियोंके दमनका होनेसे अकर्तव्यमें तो उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं और कर्तव्यमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, तो उसमें स्वार्थ, अभिमान, आसक्ति, कामना आदि नहीं रहते । यदि कभी किसी कार्यमें स्वार्थभाव आ भी जाता है, तो वह उसका दमन करता चला जाता है, जिससे अशुद्धि मिटती जाती है और शुद्धि होती चली जाती है और आगे चलकर उसका दम अर्थात् इन्द्रिय-संयम सिद्ध हो जाता है ।

'यज्ञः'—'यज्ञ' शब्दका अर्थ आहुति देना होता है । अतः अपने वर्णाश्रमके अनुसार होम, बलिवैश्वदेव आदि करना 'यज्ञ' है। इसके सिवाय गीताकी दृष्टिसे अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार जिस किसी समय जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसको स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितकी भावनासे यज्ञ

'तपः'—भूख-प्यास, सरदी-गरमी, वर्षा आदि सहना भी एक तप है, पर इस तपमें भूख-प्यास आदिको जानकर सहते हैं। परंतु साधन करते हुए अथवा जीवन-निर्वाह करते हुए देश, काल, परिस्थिति आदिको लेकर जो कष्ट, आफत, विघ्न आदि आते हैं, उनको प्रसन्नतापूर्वक सहना ही वास्तविक 'तप' है; क्योंकि इस तपमें पहले किये गये पापोंका नाश होता है और सहनेवालेमें एक नयी सहनेकी शक्ति आती है, एक नया बल आता है।

साधकको सावधान रहना चाहिये कि वह उस तपोबलका प्रयोग दूसरोंको वरदान देनेमें, शाप देने या अनिष्ट करनेमें तथा अपनी इच्छापूर्ति करनेमें न लगायें, प्रत्युत उस बलको अपने साधनमें जो बाधाएँ आती हैं, उनको प्रसन्नतासे सहनेकी शक्ति बढ़ानेमें ही लगाना चाहिये।

साधक जब साधन करता है, तो वह साधनमें कई तरहसे विघ्न मानता है। वह समझता है कि मुझे एकान्त मिले तो मैं साधन कर सकता हूँ, वायुमण्डल अच्छा हो तो साधन कर सकता हूँ। इन सब अनुकूलताओंकी चाहना न करना अर्थात् उनके अधीन न होना भी 'तप' है। साधकको अपना साधन परिस्थितियोंके अधीन नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत परिस्थितिके अनुसार अपना साधन बना लेना चाहिये। साधकको अपनी चेष्टा तो एकान्तमें साधन करनेकी करनी चाहिये, पर एकान्त न मिले तो मिली हुई परिस्थितिको भगवान्‌की भेजी हुई समझकर विशेष उत्साह-से प्रसन्नतापूर्वक साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये।

'आर्जवम्'—सरलता, सीधेपनको 'आर्जव' कहते हैं। यह सरलता साधकका विशेष गुण है। यदि साधक यह चाहता है कि दूसरे लोग मुझे अच्छा समझें, मेरा व्यवहार ठीक नहीं होगा तो लोग मुझे बढ़िया नहीं मानेंगे, इसवास्ते मुझे सरलतासे रहना चाहिये, तो यह एक प्रकारका कपट ही है। इससे साधकमें बनावटीपन आता है, जबकि साधकमें सीधा, सरल भाव होना चाहिये। सीधा, सरल होनेके कारण लोग उसे मूर्ख, बेसमझ कह सकते हैं, पर उससे साधककी कोई हानि नहीं है। अपने उद्धारके लिये तो सरलता बड़े कामकी चीज है। एक संतने कहा है—

कपट गाँठ मन में नहीं, सबसों सरल सुभाव।
'नारायन' वा भक्त की, लगी किनारे नाव॥

इसलिये साधकके शरीर, वाणी और मनके व्यवहारमें कोई बनावटीपन नहीं रहना चाहिये*। उसमें स्वतः सीधापन हो।

श्लोक—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

व्याख्या—

'अहिंसा'—शरीर, मन, वाणी, भाव आदिके द्वारा किसीका भी किसी प्रकारसे अनिष्ट न करनेको तथा अनिष्ट न चाहनेको 'अहिंसा' कहते हैं। वास्तवमें सर्वथा अहिंसा तब होती है, जब मनुष्य संसारकी तरफसे विमुख होकर परमात्माकी तरफ ही चलता है।

* मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

उसके द्वारा 'अहिंसा'का पालन स्वतः होता है। परंतु जो रागपूर्वक, भोगबुद्धिसे भोगोंका सेवन करता है, वह कभी सर्वथा अहिंसक नहीं हो सकता। वह अपना (स्वयंका) पतन तो करता ही है, जिन पदार्थों आदिको वह भोगता है, उनका भी नाश करता है।

जो संसारके सीमित पदार्थोंको, व्यक्तिगत (अपने) न होनेपर भी, व्यक्तिगत मानकर सुखबुद्धिसे भोगता है, वह हिंसा ही करता है। कारण कि समष्टि संसारसे सेवाके लिये मिले हुए पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति आदिमेंसे किसीको भी अपने भोगके लिये व्यक्तिगत मानना हिंसा ही है। यदि मनुष्य समष्टि संसारसे मिली हुई वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिको संसारकी ही मानकर निर्ममतापूर्वक संसार-की सेवामें लगा दे, तो वह हिंसासे बच सकता है और वही अहिंसक हो सकता है।

जो सुख और भोग-बुद्धिसे भोगोंका सेवन करता है, उसको देखकर, जिनको वे भोग-पदार्थ नहीं मिलते—ऐसे अभावग्रस्तोंको दुःख-संताप होता है। यह उनकी हिंसा ही है; क्योंकि भोगी व्यक्तिमें अपना स्वार्थ और सुख-बुद्धि रहती है तथा दूसरोंके दुःखकी लापरवाही रहती है (परंतु जो संत-महापुरुष केवल दूसरोंका हित करनेके लिये ही जीवन-निर्वाह करते हैं, उनको देखकर किसीको दुःख हो भी जायगा, तो भी उनको हिंसा नहीं लगेगी; क्योंकि वे भोगबुद्धिमें जीवन-निर्वाह करते ही नहीं—'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (गीता ४ । २१) ।

केवल परमात्माकी ओर चलनेवालेके द्वारा हिंसा नहीं होती; क्योंकि वह भोगबुद्धिसे पदार्थ आदिका सेवन नहीं करता। ऐसे ही शरीर, मन, वाणीके द्वारा किसीको दुःख पहुँचाना हिंसा है। परमात्माकी ओर चलनेवाला साधक कभी किसीको दुःख नहीं पहुँचाता। यदि उसकी बाह्य क्रियाओंसे किसीको दुःख हो रहा है, तो वह दुःख उसके खुदके स्वभावसे ही होता है। साधककी तो भीतरसे कभी भी किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख देनेकी भावना होनी ही नहीं चाहिये। उसका भाव निरन्तर सबका हित करनेका होना चाहिये—'सर्वभूतहिते रताः'

साधककी साधनामें कोई बाधा डाल दे, तो उसे उसपर क्रोध नहीं आता और न उसके मनमें उसके अहितकी भावना ही पैदा होती है। हाँ, परमात्माकी ओर चलनेमें बाधा पड़नेसे उसको दुःख हो सकता है, पर वह दुःख भी सांसारिक दुःखकी तरह नहीं होता। साधकको बाधा लगती है, तो वह भगवान्‌को पुकारता है कि 'हे नाथ! मेरी कहाँ भूल हुई, जिससे बाधा लग रही है!' ऐसा विचार करके उसे रोना आ सकता है, पर बाधा डालनेवालेके प्रति क्रोध, द्वेष नहीं हो सकता। बाधा लगनेपर साधकमें तत्परता और सावधानी आती है। यदि उसमें बाधा डालनेवालेके प्रति द्वेष होता है, तो जितने अंशमें द्वेष-वृत्ति रहती है, उतने अंशमें तत्परताकी कमी है, साधनका आग्रह है। साधकमें एक तत्परता होती है और एक आग्रह होता है। तत्परता होनेसे अपने साधनमें कहाँ-कहाँ कमी है, उसका ज्ञान

होता है, और उसे दूर करनेकी शक्ति आती है, तथा उसे दूर करनेकी चेष्टा भी होती है। परंतु आग्रह होनेसे साधनमें विघ्न डालनेवालेके साथ द्वेष होनेकी सम्भावना रहती है।

जैसे पुष्पसे सुगन्ध स्वतः फैलती है, ऐसे ही साधकसे स्वतः पारमार्थिक परमाणु फैलते हैं और वायुमण्डल शुद्ध होता है, जिससे उसके द्वारा स्वतः—स्वाभाविक प्राणिमात्रका बड़ा भारी उपकार एवं हित होता रहता है। परंतु जो अपने दुर्गुण-दुराचारोंके द्वारा वायुमण्डलको अशुद्ध करता रहता है, वह प्राणिमात्रकी हिंसा करनेका अपराधी होता है।

'सत्यम्'—अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे, जैसा सुना, देखा पढ़ा, समझा और निश्चय किया है, उससे न अधिक और न कम—वैसा-का-वैसा प्रिय शब्दोंमें कह देना 'सत्य' है।

सत्यस्वरूप परमात्माको पाने एवं जाननेका एकमात्र उद्‌देश्य हो जानेपर साधकके द्वारा मन, वाणी और क्रियासे असत्य-व्यवहार नहीं हो सकता। उसके द्वारा सत्य-व्यवहार, सबके हितका व्यवहार ही होता है। जो सत्यको जानना चाहता है, वह सत्यके ही सम्मुख रहता है। इसलिये उसके मन-वाणी-शरीरसे जो क्रियाएँ होती हैं, वे सभी उत्साहपूर्वक सत्यकी ओर चलनेके लिये ही होती हैं।

'अक्रोधः'—दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये अन्तःकरणमें जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, वह 'क्रोध' है। पर जबतक

अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करनेकी भावना पैदा [illegible] तबतक वह 'क्षोभ' है, क्रोध नहीं।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे साधन करनेवाला पुरुष [illegible] अपकार करनेवालेका भी अनिष्ट नहीं करना चाहता। वह इस बातको समझता है कि अनिष्ट करनेवाला व्यक्ति [illegible] अनिष्ट कभी कर ही नहीं सकता। यह जो हमें दुःख [illegible] के लिये आया है, यह हमने पहले कोई गलती की है, [illegible] फल है। अतः यह हमें शुद्ध कर रहा है, [illegible] जैसे, डाक्टर किसी रुग्ण अङ्गको काटता है, तो [illegible] नहीं करता, प्रत्युत उसे अच्छा मानता है, ठीक [illegible] रुग्ण अङ्गको काटना तो उसे ठीक करनेके लिये ही है। [illegible] साधकको कोई अहितकी भावनासे [illegible] उसमें यह भाव पैदा होता है कि वह [illegible] निमित्त बन रहा है। अतः उसपर क्रोध कैसे! [illegible] कर रहा है, और भविष्यके लिये सावधान [illegible] की है, आगे वैसी गलती न करूँ।

जो लोग साधकका हित [illegible] हैं, वे तो साधकको सुख पहुँचाकर [illegible] पर साधकको उनपर (उसके [illegible] नहीं आता। उनपर साधकको [illegible] सेवा करते हैं, मेरे अनुकूल [illegible] सज्जनता है, उनका श्रेष्ठ [illegible]

होता है, जब मैं उनकी सेवासे सुख भोगता हूँ। इस प्रकार साधककी दृष्टि सेवा करनेवालोंकी अच्छाई, शुद्ध नीयतपर ही जाती है। अतः साधकको न तो दुःख देनेवालोंपर क्रोध होता है और न सुख देनेवालोंपर।

'त्यागः'—संसारसे विमुख हो जाना ही असली त्याग है। साधकके जीवनमें बाहरका और भीतरका—दोनों ही त्याग होना चाहिये। जैसे, बाहरसे पाप, अन्याय, अत्याचार, दुराचार आदिका और बाहरी सुख-आराम आदिका त्याग भी करना चाहिये, और भीतरसे सांसारिक नाशवान् वस्तुओंकी कामनाका त्याग करना चाहिये। इसमें भी बाहरके त्यागकी अपेक्षा भीतरकी कामनाका त्याग श्रेष्ठ है। कामनाका सर्वथा त्याग होनेपर तत्काल शान्तिकी प्राप्ति होती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२)।

साधकके लिये उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंकी कामना ही वास्तवमें सबसे ज्यादा बाधक होती है। अतः कामनाका सर्वथा त्याग करना चाहिये।* त्याग कब होता है? जब साधकका उद्देश्य,

---

* अपने स्वरूपका बोध, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम, जीवन्मुक्ति आदिकी इच्छा करना 'कामना' नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी 'आवश्यकता' है। कामना नाशवान् जड़-वस्तुकी होती है, और आवश्यकता चिन्मय-तत्त्वकी होती है। कामनाकी पूर्ति नहीं होती, प्रत्युत वह बढ़ती ही रहती है, इसलिये उसका त्याग करना है; परंतु आवश्यकताकी पूर्ति होती है। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये तीन उपाय हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। मनुष्यने सांसारिक नाशवान् चीजोंको अपनी माना है, जिससे वह संसारका गुलाम हुआ है। अतः वह सबके हितके उद्देश्यसे

लक्ष्य एकमात्र परमात्मप्राप्तिका ही हो जाता है, तब उसकी कामनाएँ दूर होती चली जाती हैं। कारण कि सांसारिक भोग और संग्रह करना साधकका लक्ष्य नहीं होता। अतः वह सांसारिक भोग और संग्रहकी कामनाका त्याग करते हुए अपने साधनमें आगे बढ़ता रहता है।

'शान्तिः'—अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना 'शान्ति' है; क्योंकि संसारके साथ राग-द्वेष करनेसे ही अन्तःकरणमें अशान्ति आती है, और उनके न होनेसे अन्तःकरण स्वाभाविक ही शान्त, प्रसन्न रहता है।

उन नाशवान् चीजोंको संसारकी समझकर संसारकी सेवा, हितमें लगा दे, तो उसकी गुलामी (पराधीनता) छूट जायगी और वह स्वतन्त्र हो जायगा—यह कर्मयोग है। परमात्मा तो अपना स्वरूप है। जीव उससे अलग नहीं है। केवल नाशवान् चीजोंसे अपना सम्बन्ध माननेसे वह अपने स्वरूपसे च्युत हुआ है। अतः नाशवान्‌के सम्बन्धका त्याग कर दें, तो अपने स्वरूपका बोध हो जायगा—यह ज्ञानयोग है। भगवान् अंशी हैं और जीव अंश है, और इनका परस्पर नित्य-सम्बन्ध है। केवल नाशवान् चीजको अपनी माना है, जिससे वह भगवान्‌से विमुख हुआ है। नाशवान्‌को अपना न मानकर एकमात्र भगवान्‌को ही अपना माननेसे वह स्वतः भगवान्‌के सम्मुख हो जायगा और उसे भगवत्प्रेम प्राप्त हो जायगा—यह भक्तियोग है। तात्पर्य यह है कि नाशवान् चीजको अपनी माननेसे ही यह जीव संसारका गुलाम, अपने स्वरूपसे च्युत और भगवान्‌से विमुख हुआ है। यदि वह नाशवान् चीजको अपनी न माने (जो कि अपनी नहीं है), तो संसारकी गुलामी छूट जायगी। अपने स्वरूपका बोध हो जायगा और भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी।

अनुकूलतासे पुराने पुण्योंका नाश होता है और उसमें अपना स्वभाव सुधरनेकी बजाय बिगड़नेकी गुंजाइश रहती है। परंतु प्रतिकूलता आनेपर पापोंका नाश होता है और अपने स्वभावमें भी सुधार होता है। इस बातको समझनेपर प्रतिकूलतामें भी स्वतः शान्ति बनी रहती है।

किसी परिस्थिति आदिको लेकर यदि साधकमें कभी राग-द्वेषका भाव हो भी जाता है, तो उसके मनमें अशान्ति पैदा हो जाती है। अशान्ति होते ही वह तुरंत सावधान हो जाता है कि राग-द्वेषपूर्वक कर्म करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इस विचारसे फिर शान्ति आ जाती है और समय पाकर स्थिर हो जाती है।

'अपैशुनम्'—किसीके दोषको दूसरेके आगे प्रकट करके दूसरोंमें उसके प्रति दुर्भाव पैदा करना पिशुनता है, और इसका सर्वथा अभाव ही 'अपैशुन' है। परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य होनेसे साधक कभी किसीकी चुगली नहीं करता। ज्यों-ज्यों उसका साधन आगे बढ़ता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों उसकी दोषदृष्टि और द्वेषवृत्ति मिटकर दूसरोंके प्रति उसका स्वतः ही अच्छा भाव होता चला जाता है। उसके मनमें यह विचार भी नहीं आता कि मैं साधन करनेवाला हूँ और ये दूसरे (साधन न करनेवाले) साधारण मनुष्य हैं, प्रत्युत तत्परतासे साधन होनेपर उसे जैसी अपनी स्थिति (जड़तासे सम्बन्ध न होना) दिखायी देती है, वैसे ही दूसरोंकी स्थिति भी दिखायी देती है कि वास्तवमें उनका भी जड़तासे सम्बन्ध नहीं है, केवल सम्बन्ध माना हुआ है। इस तरह जब

उसकी दृष्टिमें किसीका भी जड़तासे सम्बन्ध है ही नहीं, तो वह किसीका दोष किसीके प्रति क्यों प्रकट करेगा ?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस ७ । ११२ ख)

इस प्रकार भक्तिमार्गवाला सर्वत्र अपने प्रभुको देखता है, ज्ञानमार्गवाला केवल अपने स्वरूपको ही देखता है और कर्मयोग-मार्गवाला अपने सेव्यको देखता है। इसलिये साधक किसीकी बुराई, निन्दा, चुगली आदि कर ही कैसे सकता है ?

'दया भूतेषु'—दूसरोंको दुखी देखकर उसका दुःख दूर करनेकी भावनाको 'दया' कहते हैं। भगवान्‌की, संत-महात्माओंकी, साधकोंकी और साधारण मनुष्योंकी दया अलग-अलग होती है—

(१) भगवान्‌की दया—भगवान्‌की दया सभीको शुद्ध करनेके लिये होती है। भक्तलोग इस दयाके दो भेद मानते हैं—कृपा और दया। प्राणिमात्रको पापोंसे शुद्ध करनेके लिये उनके मनके विरुद्ध (प्रतिकूल) परिस्थितिको भेजना 'कृपा' है, और अनुकूल परिस्थितिको भेजना 'दया' है।

(२) संत-महात्माओंकी दया—संत-महात्मालोग दूसरोंके दुःखसे दुखी और दूसरोंके सुखसे सुखी होते हैं—'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' (मानस ७ । ३७ । १)। पर वास्तवमें उनके भीतर न दूसरोंके दुःखसे दुःख होता है और न अपने दुःखसे

दुःख होता है। अपनेपर दुःखदायी परिस्थिति आनेपर वे उसमें भगवान्‌की कृपा और दयाको देखते हैं, पर दूसरोंपर दुःख आनेपर उन्हें सुखी करनेके लिये वे उनके दुःखको स्वयं अपनेपर ले लेते हैं। जैसे, इन्द्रने क्रोधसे बिना अपराधके दधीचि ऋषिका सिर काट दिया था, पर जब इन्द्रने अपनी रक्षाके लिये उनकी हड्डियाँ माँगीं, तब दधीचिने सहर्ष प्राण छोड़कर उन्हें अपनी हड्डियाँ दे दीं। इस प्रकार संत-महापुरुष दूसरेके दुःखको सह नहीं सकते, प्रत्युत उन्हें सुख पहुँचानेके लिये अपनी सुख-सामग्री और प्राणतक दे देते हैं, चाहे दूसरा उनका अहित करनेवाला ही क्यों न हो !* इसलिये संत-महात्माओंकी दया विशेष शुद्ध, निर्मल होती है।

(३) साधकोंकी दया—साधक अपने मनमें दूसरोंका दुःख दूर करनेकी भावना रखता है और उसके अनुसार उनका दुःख दूर करनेकी चेष्टा भी करता है। दूसरोंको दुःखी देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता है; क्योंकि वह अपनी ही तरह दूसरोंके दुःखको भी समझता है। इसलिये उसका यह भाव रहता है कि सब सुखी कैसे हों ? सबका भला कैसे हो ? सबका उद्धार कैसे हो ? सबका हित कैसे हो ? अपनी ओरसे वह ऐसी ही चेष्टा करता है; परंतु मैं सबका हित करता हूँ, सबके हितकी चेष्टा करता हूँ—इन बातोंको लेकर उसके मनमें अभिमान नहीं होता। कारण कि दूसरोंका

---

* कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥

दुःख दूर करनेका सहज स्वभाव बन जानेसे उसे अपने आचरणोंमें कोई विशेषता नहीं दीखती । इस वास्ते उसको अभिमान नहीं होता ।

जो प्राणी भगवान्‌की ओर नहीं चलते, दुर्गुण-दुराचारोंमें रत रहते हैं, दूसरोंका अपराध करते हैं, और अपना पतन करते हैं—ऐसे प्राणियोंपर साधकको क्रोध न आकर दया आती है। इस वास्ते वह हरदम ऐसी चेष्टा करता रहता है कि ये लोग दुर्गुण-दुराचारोंसे ऊपर कैसे उठें ? इनका भला कैसे हो ? कभी-कभी वह उनके दोषोंको दूर करनेमें अपनेको निर्बल मानकर भगवान्‌से प्रार्थना करता है कि 'हे नाथ ! ये लोग इन दोषोंसे छूट जायँ और आपके भक्त बन जायँ ।'

(४) साधारण मनुष्योंकी दया—साधारण मनुष्यकी दयामें थोड़ी मलिनता रहती है । वह किसी जीवके हितकी चेष्टा करता है, तो वह सोचता है कि 'मैं कितना दयालु हूँ ! मैंने इस जीवको सुख पहुँचाया, तो मैं कितना अच्छा हूँ । हरेक आदमी मेरे-जैसा दयालु नहीं है, कोई-कोई ही होता है' इत्यादि । इस प्रकार 'लोग मुझे अच्छा समझेंगे, मेरा आदर करेंगे' आदिको लेकर, अपनेमें महत्त्वबुद्धि रखकर जो दया की जाती है, उसमें दयाका अंश तो अच्छा है, पर साथमें उपर्युक्त मलिनताएँ रहनेसे उस दयामें अशुद्धि आ जाती है ।

इनसे भी साधारण दर्जेके मनुष्य दया तो करते हैं, पर उनकी दया ममतावाले व्यक्तियोंपर ही होती है । जैसे, ये हमारे परिवारके हैं,

हमारे मत और सिद्धान्तको माननेवाले हैं, तो उनका दुःख दूर करनेकी इच्छासे उन्हें सुख-आराम देनेका प्रयत्न करते हैं। यह दया ममता और पक्षपातयुक्त होनेसे अधिक अशुद्ध है।

इनसे भी घटिया दर्जेके वे मनुष्य हैं, जो केवल अपने सुख और स्वार्थकी पूर्तिके लिये ही दूसरोंके प्रति दयाका वर्ताव करते हैं।

'अलोलुप्त्वम्'—इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध होनेसे अथवा दूसरोंको भोग भोगते हुए देखनेसे मनका (भोग भोगनेके लिये) ललचा उठनेका नाम 'लोलुपता' है, और उसके सर्वथा अभावका नाम 'अलोलुप्त्व' है।

अलोलुपताके उपाय—(१) साधकके लिये विशेष सावधानीकी बात है कि वह अपनी इन्द्रियोंसे भोगोंका सम्बन्ध न रखे, और मनमें कभी भी ऐसा भाव न आने दे, ऐसा अभिमान न आने दे कि मेरा इन्द्रियोंपर अधिकार है अर्थात् इन्द्रियाँ मेरे वशमें हैं, तो इस वास्ते मेरा क्या बिगड़ सकता है?

(२) 'मैं हृदयसे परमात्माकी प्राप्ति चाहता हूँ, अगर कभी हृदयमें विषय-लोलुपता हो गयी, तो मेरा पतन हो जायगा, और मैं परमात्मासे विमुख हो जाऊँगा'—इस प्रकार साधक खूब सावधान रहे और कहीं अचानक विचलित होनेका अवसर आ जाय, तो 'हे नाथ! बचाओ; हे नाथ! बचाओ' ऐसे सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारे।

(३) स्त्री-पुरुषोंकी तथा जन्तुओंकी कामविषयक चेष्टा न देखे। यदि दीख जाय, तो ऐसा विचार करे कि 'यह तो बिल्कुल

चौरासी लाख योनियोंका रास्ता है। यह चीज तो देवताओंमें क्या मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, राक्षस-असुर, भूत-प्रेत आदि यावज्जीव-मात्रमें भी है। पर मैं तो चौरासी लाख योनियों अर्थात् जन्म-मरणसे ऊँचा उठना चाहता हूँ। मैं जन्म-मरणके मार्गका पथिक नहीं हूँ। मेरेको तो जन्म-मरणादि दुःखोंका अत्यन्त अभाव करके परमात्माकी प्राप्ति करना है।' इस भावको बड़ी सावधानीके साथ जाग्रत् रखना है और जहाँतक बने, ऐसी काम-चेष्टा नहीं देखनी है।

'मार्दवम्'—बिना कारण दुःख देनेवालों और वैर रखनेवालोंके प्रति भी अन्तःकरणमें कठोरताका भाव न होना तथा स्वाभाविक कोमलताका रहना 'मार्दव' है*।

साधकके हृदयमें सबके प्रति कोमलताका भाव रहता है। उसके प्रति कोई कठोरता एवं अहितका बर्ताव भी करता है, तो भी उसकी कोमलतामें अन्तर नहीं आता। यदि साधक कभी किसी बातको लेकर किसीको कठोर जवाब भी दे दे; तो वह कठोर जवाब भी उसके हितकी दृष्टिसे ही देता है। पर पीछे उसके मनमें यह विचार आता है कि मैंने उसके प्रति कठोरताका व्यवहार क्यों किया! मैं उसे प्रेमसे या अन्य किसी उपायसे भी समझा सकता था—इस प्रकारके भाव आनेसे कठोरता मिटती रहती है और कोमलता बढ़ती रहती है।

यद्यपि साधकोंके भावों एवं वाणीमें कोमलता रहती है, तथापि उनकी भिन्न-भिन्न प्रकृति होनेसे सबकी वाणीमें एक समान कोमलता

---

* शरीरकी प्रधानताको लेकर 'आर्जव' और अन्तःकरणकी प्रधानताको लेकर 'मार्दव' कहा जाता है—यही इन दोनोंमें अन्तर है।

नहीं होती। परंतु हृदयमें साधकोंका सबके प्रति कोमल भाव रहता है। ऐसे ही कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदिका साधन करनेवालोंके स्वभावमें विभिन्नता होनेसे उनके बर्ताव सबके प्रति भिन्न-भिन्न होते हैं; अतः उनके आचरणोंमें एक जैसी कोमलता नहीं दीखती, पर भीतरमें बड़ी भारी कोमलता रहती है।

'ह्रीः'—शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम करनेमें जो एक संकोच होता है, उसका नाम 'ह्रीः' (लज्जा) है। साधकको साधन-विरुद्ध क्रिया करनेमें लज्जा आती है। वह लज्जा केवल लोगोंके देखनेसे ही नहीं आती, प्रत्युत उसके मनमें अपने-आप ही यह विचार आता है कि 'राम-राम' मैं ऐसी क्रिया कैसे कर सकता हूँ! क्योंकि मैं तो परमात्माकी तरफ चलनेवाला (साधक) हूँ। लोग भी मुझे परमात्माकी तरफ चलनेवाला समझते हैं। इस वास्ते ऐसी साधन-विरुद्ध क्रियाओंको मैं एकान्तमें अथवा लोगोंके सामने कैसे कर सकता हूँ!'—इस लज्जाके कारण साधक बुरे कर्मोंसे बच जाता है एवं उसके आचरण ठीक होते चले जाते हैं। जब साधक अपनी अहंता बदल देता है कि मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ, तो उसे अपनी अहंताके विरुद्ध क्रिया करनेमें स्वाभाविक ही लज्जा आती है। इसलिये पारमार्थिक उद्देश्य रखनेवाले प्रत्येक साधकको अपनी अहंता 'मैं साधक हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भगवद्भक्त हूँ'—इस प्रकारसे यथारुचि बदल लेनी चाहिये, जिससे वह साधन-विरोधी कर्मोंसे बचकर अपने उद्देश्यको जल्दी प्राप्त कर सकता है।

'अचापलम्'—कोई भी कार्य करनेमें चपलताका न होना 'अचापल' है। चपलता (चञ्चलता) न होनेसे काम जल्दी नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। सात्त्विक मनुष्य सब काम धैर्यपूर्वक करता है। अतः उसका काम सुचारुरूपसे और ठीक समयपर हो जाता है। जब कार्य ठीक हो जाता है, तब उसके अन्तःकरणमें हलचल, चिन्ता नहीं होती। चपलता न होनेसे कार्यमें दीर्घसूत्रताका दोष भी नहीं आता, प्रत्युत कार्यमें तत्परता आती है, जिससे सब काम सुचारुरूपसे होते हैं। अपने कर्तव्य-कर्मोंको करनेके अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा न होनेसे उसका चित्त विक्षिप्त और चञ्चल नहीं होता।

राजसी मनुष्यमें आसक्तिवश चञ्चलता होनेके कारण उसके द्वारा कोई भी काम साङ्गोपाङ्ग और सुचारुरूपसे नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धिमें रजोगुणके छाये रहनेसे कार्यको ठीक तरहसे करनेका विवेक बुद्धितक पहुँचता ही नहीं, और जल्दीबाजीमें काम भी बिगड़ जाता है। तामसी मनुष्य भी दीर्घसूत्रता (कम समयमें होनेवाले कार्यमें अधिक समय लगा देनेकी प्रवृत्ति) के कारण कार्यको सुचारुरूपसे नहीं कर पाते।*

श्लोक—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

* गीता १८। २६–२८ में इन तीनों—सात्त्विक, राजस और तामस कर्ताओंका वर्णन है।

व्याख्या—

तेजः—महापुरुषोंका सङ्ग मिलनेपर उनके प्रभावसे प्रभावित होकर साधारण पुरुष भी दुर्गुण-दुराचारोंको त्यागकर सद्गुण-सदाचारोंमें लग जाते हैं। महापुरुषोंकी उस शक्तिको ही यहाँ 'तेज' कहा है। ऐसे तो क्रोधी आदमीको देखकर भी लोगोंको उसके स्वभावके विरुद्ध काम करनेमें भय लगता है, वह भी एक तेज है। परंतु वह क्रोधरूप दोषका तेज है।

साधकमें दैवी सम्पत्तिके गुण प्रकट होनेसे उसको देखकर दूसरे लोगोंके भीतर स्वाभाविक ही सौम्यभाव आते हैं अर्थात् उस साधकके सामने दूसरे लोग दुराचार करनेमें लज्जित होते हैं, हिचकते हैं और अनायास ही सद्भावपूर्वक सदाचार करने लग जाते हैं। यही उन दैवी सम्पत्तिवालोंका तेज (प्रभाव) है।

'क्षमा'—बिना कारण अपराध करनेवालेको दण्ड देनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी उसके अपराधको सह लेना और माफ कर देना 'क्षमा' है*। यह क्षमा मोह, ममता, भय और स्वार्थको लेकर भी की जाती

* क्षमा और अक्रोधमें क्या अन्तर है ? क्षमामें जिसने अपराध किया है, उसपर विशेषतासे यह दृष्टि रहती है कि उसको कभी किसी प्रकारका दण्ड न हो और अक्रोधमें अपनी तरफ दृष्टि रहती है कि हमारे क्रोध न हो, जलन न हो, किसी प्रकारकी हलचल न हो। यद्यपि क्षमाके अन्तर्गत अक्रोध भी आ जाता है, तथापि क्षमाशील कह देनेपर उसके लिये क्रोधरहित कहनेकी आवश्यकता नहीं है, जब कि क्रोधरहित कहनेपर यह क्षमाशील है, ऐसा कहनेकी आवश्यकता रह जाती है। इस वास्ते ये दोनों गुण (क्षमा और अक्रोध) भिन्न-भिन्न हैं।

है; जैसे—पुत्रके अपराध कर देनेपर पिता उसे क्षमा कर देता है, तो यह क्षमा मोह-ममताको लेकर होनेसे शुद्ध नहीं है। इसी प्रकार किसी बलवान् एवं क्रूर व्यक्तिके द्वारा हमारा अपराध किये जानेपर हम भयवश उसके सामने कुछ नहीं बोलते, तो यह क्षमा भयको लेकर है। हमारी धन-सम्पत्तिकी जाँच-पड़ताल करनेके लिये इन्सपेक्टर आता है, तो वह हमें धमकाता है, अनुचित भी बोलता है और उसका ठहरना हमें बुरा भी लगता है, तो भी स्वार्थ-हानिके भयसे हम उसके सामने कुछ भी नहीं बोलते, तो यह क्षमा स्वार्थको लेकर है। पर ऐसी क्षमा वास्तविक क्षमा नहीं है। वास्तविक क्षमा तो वही है, जिसमें 'हमारा अनिष्ट करनेवालेको यहाँ और परलोकमें भी किसी प्रकारका दण्ड न मिले'—ऐसा भाव रहता है।

क्षमा माँगना भी दो रीतिसे होता है—

(१) हमने किसीका अपकार किया, तो उसका दण्ड हमें न मिले—इस भयसे भी क्षमा माँगी जाती है; परंतु इस क्षमामें स्वार्थका भाव रहनेसे यह ऊँचे दर्जेकी क्षमा नहीं है।

(२) हमसे किसीका अपराध हुआ, तो अब यहाँसे आगे उम्रभर ऐसा अपराध फिर कभी नहीं करूँगा—इस भावसे जो क्षमा माँगी जाती है, वह अपने सुधारकी दृष्टिको लेकर होती है और ऐसी क्षमा माँगनेसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है।

मनुष्य क्षमाको अपनेमें लाना चाहे, तो कौन-सा उपाय करे? यदि मनुष्य अपने लिये किसीसे किसी प्रकारके सुखकी आशा न

रखे और अपना अपकार करनेवालेका बुरा न चाहे, तो उसमें क्षमाभाव प्रकट हो जाता है।

'धृतिः'—किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिमें विचलित न होकर अपनी स्थितिमें कायम रहनेकी शक्तिका नाम 'धृति' (धैर्य) है*।

वृत्तियाँ सात्त्विक होती हैं तो धैर्य ठीक रहता है और वृत्तियाँ राजसी-तामसी होती हैं। तो धैर्य वैसा नहीं रहता। जैसे बद्रीनारायणके रास्तेपर चलनेवालेके लिये कभी गरमी, चढ़ाई आदि प्रतिकूलताएँ आती हैं और कभी ठण्डक, उतराई आदि अनुकूलताएँ आती हैं पर चलनेवालेको उन प्रतिकूलताओं और अनुकूलताओंको देखकर ठहरना नहीं है, प्रत्युत अपने तो बद्रीनारायण पहुँचना है—इस उद्देश्यसे धैर्य और तत्परतापूर्वक चलते रहना है। ऐसे ही साधकको अच्छी-मन्दी वृत्तियों और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंकी ओर देखना ही नहीं चाहिये। इनमें उसे धीरज धारण करना चाहिये; क्योंकि जो अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहता है, वह मार्गमें आनेवाले सुख और दुःखको नहीं देखता—

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

(भर्तृहरिनीतिशतक)

---

* गीतामें इसीको सात्त्विक धृतिके नामसे कहा है—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ (१८। ३३)

'शौचम्'—बाह्यशुद्धि एवं अन्तःशुद्धिका नाम 'शौच' है।* परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखनेवाला साधक बाह्यशुद्धिका भी खयाल रखता है; क्योंकि बाह्यशुद्धि रखनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि स्वतः होती है और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर बाह्य अशुद्धि उसको सुहाती नहीं। इस विषयपर पतञ्जलि महाराजने कहा है—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।
(योगदर्शन २। ४०)

'शौचसे साधककी अपने शरीरमें घृणा अर्थात् अपवित्र-बुद्धि और दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा होती है।'

तात्पर्य यह कि अपने शरीरको शुद्ध रखनेसे शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान होता है। शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान होनेसे 'सम्पूर्ण शरीर इसी तरहके हैं'—इसका बोध होता है। इस बोधसे दूसरे शरीरोंके प्रति जो आकर्षण होता है, उसका अभाव हो जाता है अर्थात् दूसरे शरीरोंसे सुख लेनेकी इच्छा मिट जाती है।

बाह्यशुद्धि चार प्रकारसे होती है—(१) शारीरिक, (२) वाचिक, (३) कौटुम्बिक और (४) आर्थिक।

(१) शारीरिक शुद्धि—प्रमाद, आलस्य, आरामतलबी, स्वाद-शौकीनी आदिसे शरीर अशुद्ध हो जाता है और इनके विपरीत कार्य-तत्परता, पुरुषार्थ, उद्योग, सादगी आदि रखते हुए आवश्यक कार्य

* यहाँ 'शौचम्' पदसे बाह्य-शुद्धि ही लेनी चाहिये; क्योंकि अन्तःशुद्धि 'सत्त्वसंशुद्धिः' पदसे इसी अध्यायके पहले श्लोकमें आ चुकी है।

करनेपर शरीर शुद्ध हो जाता है। ऐसे ही जल, मृत्तिका आदिसे भी शारीरिक शुद्धि होती है।

(२) वाचिक शुद्धि—झूठ बोलने, कड़ुआ बोलने, वृथा बकवाद करने, निन्दा करने, चुगली करने आदिसे वाणी अशुद्ध हो जाती है। और इन दोषोंसे रहित होकर सत्य, प्रिय एवं हितकारक आवश्यक वचन बोलना* (जिससे दूसरोंकी पारमार्थिक उन्नति होती हो और देश, ग्राम, मोहल्ले, परिवार, कुटुम्ब आदिका हित होता हो) और अनावश्यक बात न करना—यह वाणीकी शुद्धि है।

(३) कौटुम्बिक शुद्धि—अपने बाल-बच्चोंको अच्छी शिक्षा देना; जिस प्रकारसे उनका हित हो, वही आचरण, बर्ताव करना, कुटुम्बियोंका हमपर जो न्याययुक्त अधिकार है, उसको अपनी शक्तिके अनुसार पूरा करना, कुटुम्बियोंमें किसीका पक्षपात न करके सबका समानरूपसे हित करना—यह कौटुम्बिक शुद्धि है।

(४) आर्थिक शुद्धि—न्याययुक्त, सत्यतापूर्वक, दूसरोंके हितका बर्ताव करते हुए जिस धनका उपार्जन किया गया है, उसको अरक्षित, अभावग्रस्त, दरिद्री, रोगी, अकालपीड़ित, भूखे आदि आवश्यकतावालोंको देनेसे एवं गौ, स्त्री, ब्राह्मणोंकी रक्षामें लगानेसे द्रव्यकी शुद्धि होती है।

त्यागी-वैरागी-तपस्वी सन्त-महापुरुषोंकी सेवामें लगानेसे एवं सच्छास्त्रोंको सरल भाषामें छपवाकर कम मूल्यमें देनेसे तथा उनका

* यहाँ गीता १७। १५ में आये हुए वाणीके तपको लेना चाहिये।

लोगोंमें प्रचार करने आदिमें लगानेसे द्रव्यकी महान् शुद्धि हो जाती है।

परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य हो जानेपर अपनी—स्वयंकी शुद्धि हो जाती है। स्वयंकी शुद्धि होनेपर शरीर, वाणी, कुटुम्ब, अर्थ आदि सभी शुद्ध एवं पवित्र होने लगते हैं। शरीर आदिके शुद्ध हो जानेसे वहाँका स्थान, वायुमण्डल आदि भी शुद्ध हो जाते हैं। बाह्यशुद्धि और पवित्रताका खयाल रखनेसे शरीरकी वास्तविकता अनुभवमें आ जाती है, जिससे शरीरसे अहंता-ममता छोड़नेमें सहायता मिलती है। इस प्रकार यह साधन भी परमात्मप्राप्तिमें निमित्त बनता है।

'अद्रोहः'—बिना कारण अनिष्ट करनेवालेके प्रति भी अन्तःकरणमें बदला लेनेकी भावनाका न होना 'अद्रोह' है।* साधारण व्यक्तिका कोई अनिष्ट करता है, तो उसके मनमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति द्वेषकी एक गाँठ बँध जाती है कि मौका पड़नेपर मैं इसका बदला ले ही लूँगा; किन्तु जिसका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका है, उस साधकका कोई कितना ही अनिष्ट क्यों न करे, उसके मनमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति बदला लेनेकी भावना ही पैदा नहीं होती। कारण कि कर्मयोगका साधक सबके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करता है; ज्ञानयोगका साधक सबको अपना स्वरूप समझता है और भक्तियोगका

* क्रोध और द्रोह—दोनोंमें अन्तर है। अपना अनिष्ट करनेवालेके प्रति तत्काल जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम 'क्रोध' है और क्रोधका जो भीतर भाव बैठता है अर्थात् मौका मिलनेपर उसका अनिष्ट करनेकी जो वैरभावना बैठती है, उसका नाम 'द्रोह' है।

साधक सबमें अपने इष्ट भगवान्‌को समझता है। अतः वह किसीके प्रति कैसे द्रोह कर सकता है?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
(मानस ७। ११२ ख)

'नातिमानिता'—एक 'मानिता' होती है और एक 'अतिमानिता' होती है। सामान्य व्यक्तियोंसे मान चाहना 'मानिता' है और जिनसे हमने शिक्षा प्राप्त की, जिनका आदर्श ग्रहण किया, उनसे भी अपना मान चाहना 'अतिमानिता' है। इन मानिता और अतिमानिताका न होना 'नातिमानिता' है।

स्थूल दृष्टिसे 'मानिता' के दो भेद होते हैं—

(१) सांसारिक मानिता—धन, विद्या, गुण, बुद्धि, योग्यता, अधिकार, पद, वर्ण, आश्रम आदिको लेकर दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें एक श्रेष्ठताका भाव होता है कि 'मैं साधारण मनुष्योंकी तरह थोड़े ही हूँ। मेरा कितने लोग आदर-सत्कार करते हैं! वे आदर करते हैं तो यह ठीक ही है; क्योंकि मैं आदर पानेयोग्य ही हूँ', इस प्रकार अपने प्रति जो मान्यता होती है, वह सांसारिक मानिता कहलाती है।

(२) पारमार्थिक मानिता—प्रारम्भिक साधनकालमें जब अपनेमें कुछ दैवी-सम्पत्ति प्रकट होने लगती है, तब साधकको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें कुछ विशेषता दीखती है। साथ ही दूसरे लोग भी उसे परमात्माकी ओर चलनेवाला साधक मानकर उसका विशेष

आदर करते हैं और साथ-ही-साथ 'ये साधन करनेवाले हैं, अच्छे सज्जन हैं'—ऐसी प्रशंसा भी करते हैं। इससे साधकको अपनेमें विशेषता मालूम देती है, पर वास्तवमें वह विशेषता उसके साधनमें कमी होनेके कारण ही दीखती है। यह विशेषता दीखना पारमार्थिक मानिता है।

जबतक अपनेमें व्यक्तित्व (एकदेशीयता, परिच्छिन्नता) रहता है, तभीतक अपनेमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता दिखायी दिया करती है। परंतु ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व मिटता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों साधकका दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषताका भाव मिटता चला जाता है। अन्तमें इन सभी मानिताओंका अभाव होकर साधकमें दैवी-सम्पत्तिका गुण 'नातिमानिता' प्रकट हो जाती है।

दैवी-सम्पत्तिके जितने सद्गुण-सदाचार हैं, उनको पूर्णतया जाग्रत् करनेका उद्देश्य तो साधकका होना ही चाहिये। हाँ, प्रकृति (स्वभाव) की भिन्नतासे किसीमें किसी गुणकी कमी, तो किसीमें किसी गुणकी कमी रह सकती है। परंतु वह कमी साधकके मनमें खटकती रहती है और वह प्रभुका आश्रय लेकर अपने साधनको तत्परतासे करते रहता है, तो भगवत्कृपासे वह कमी मिटती जाती है। कमी ज्यों-ज्यों मिटती जाती है, त्यों-त्यो उत्साह और उम्मीदवारी (उसके उत्तरोत्तर मिटनेकी सम्भावना) भी बढ़ती जाती है। उससे दुर्गुण-दुराचार सर्वथा नष्ट होकर सद्गुण-सदाचा अर्थात् दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो जाती है।

'भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत'—श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! ये सभी दैवी-सम्पत्तिकी* प्रधानताको लेकर पैदा हुए पुरुषोंके लक्षण हैं।

---

* 'देव' नाम परमात्माका है। उनके जो स्वाभाविक गुण हैं, वे ही दैवी-सम्पत्ति कहलाते हैं। जैसे परमात्मा स्वतः हैं, वैसे ही दैवी-सम्पत्ति भी स्वतः-स्वाभाविक है। जब मनुष्य परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, तब उनका अंश (गीता १५। ७) होनेसे उनकी दैवी-सम्पत्ति इस मनुष्यमें स्वाभाविक प्रकट होने लगती है। यह एक सिद्धान्त है कि जो वस्तु स्वाभाविक होती है, वह नष्ट नहीं होती और उसका अभिमान भी नहीं होता। जैसे सत्य, अहिंसा आदि गुण स्वाभाविक होनेसे सत्य बोलनेवालेमें और अहिंसाका पालन करनेवालेमें यह अभिमान नहीं होता कि मैं सत्य बोलनेवाला हूँ, मैं अहिंसक हूँ। यह अभिमान किसको लेकर होता है? मनुष्य जब यह चाहता है कि मेरे प्राण बने रहें, मैं मरूँ नहीं, सदा संग्रह करता रहूँ और सुख भोगता रहूँ, तब उसका शरीरमें, प्राणोंमें मोह हो जाता है, जो कि परिवर्तनशील और असत् है। जब प्रकृतिके क्षुद्र अंश प्राणोंमें मोह हो जाता है, तब उसका सम्पूर्ण प्रकृतिके साथ सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध हो जानेसे आसुरी-सम्पत्तिके जितने लक्षण हैं, वे सब-के-सब बिना बुलाये, बिना उद्योग किये अपने-आप ही मनुष्यमें आ जाते हैं।

जब कभी सन्त-महापुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यको चेत होता है, तब वह कर्तव्यरूपसे अच्छे आचरण करके अर्थात् सत्य बोलना, हिंसा न करना आदि दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको उपार्जन करके आसुरी-सम्पत्तिके अवगुणोंको मिटाना चाहता है, और उन गुणोंके उपार्जनमें अपना पुरुषार्थ मानता है। अतः जिन गुणोंको साधक अपने पुरुषार्थसे उपार्जित एवं अपने गुण मानता है, उन्हीं गुणोंका उसे अभिमान आता है और इससे अभिमानके आश्रित रहनेवाले दुर्गुण-दुराचारोंको पुष्टि मिलती है।

परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेपर ये दैवी-सम्पत्तिके लक्षण साधकमें स्वाभाविक ही आने लगते हैं। कुछ लक्षण पूर्वजन्मोंके संस्कारोंसे भी उद्भूत होते हैं। परंतु साधक इन गुणोंको अपने नहीं मानता और न उनको अपने पुरुषार्थसे उपार्जित ही मानता है, प्रत्युत गुणोंके आनेमें वह भगवान्‌की ही कृपा मानता है। कभी खयाल करनेपर साधकके मनमें ऐसा विचार होता है कि मेरेमें पहले तो ऐसी वृत्तियाँ नहीं थीं, ऐसे सद्गुण नहीं थे, फिर ये कहांसे आ गये ? तो ये सब भगवान्‌की कृपासे ही आये हैं—ऐसा अनुभव होनेसे उस साधकको दैवी-सम्पत्तिका अभिमान नहीं आता।

साधकको दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको अपने नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यह देव—परमात्माकी सम्पत्ति है, व्यक्तिगत (अपनी) किसीकी नहीं है। यदि व्यक्तिगत होती, तो यह अपनेमें ही रहती और किसी अन्य व्यक्तिकी नहीं रहती। इसको व्यक्तिगत माननेसे ही अभिमान आता है। अभिमान आसुरी-सम्पत्तिका मुख्य लक्षण है। अभिमानकी छायामें ही आसुरी-सम्पत्तिके सभी अवगुण रहते हैं। यदि दैवी-सम्पत्तिसे आसुरी-सम्पत्ति (अभिमान) पैदा हो जाय, तो फिर आसुरी-सम्पत्ति कभी मिटेगी ही नहीं। परंतु दैवी-सम्पत्तिसे आसुरी-सम्पत्ति कभी पैदा नहीं होती, प्रत्युत दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके साथ-साथ आसुरी-सम्पत्तिके जो अवगुण रहते हैं, उनसे ही गुणोंका अभिमान पैदा होता है अर्थात् साधनके साथ कुछ-कुछ असाधन रहनेसे ही अभिमान आदि दोष पैदा

होते हैं । जैसे किसीको सत्य बोलनेका अभिमान होता है; तो उसके मूलमें वह सत्यके साथ-साथ असत्य भी बोलता है, जिसके कारण सत्यका अभिमान आता है । तात्पर्य यह कि दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको अपना माननेसे एवं गुणोंके साथ अवगुण रहनेसे ही अभिमान आता है । सर्वथा गुण आनेपर गुणोंका अभिमान हो ही नहीं सकता ।

यहाँ दैवी-सम्पत्ति कहनेका मतलब है कि यह भगवान्‌की सम्पत्ति है । अतः भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे, उनका आश्रय लेनेसे शरणागत भक्तमें यह स्वाभाविक ही आती है, उद्भूत होती है । जैसे रामचरितमानसमें शबरीके प्रसङ्गमें रामजीने कहा है—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥

....

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥
(अरण्य० ३४-३५)

मनुष्य-देवता, भूत-पिशाच, पशु-पक्षी, नारकीय जीव, कीट-पतङ्ग, लता-वृक्ष आदि जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबमें अपनी-अपनी योनिके अनुसार मिले हुए शरीरोंके रुग्ण एवं जीर्ण हो जानेपर भी 'मैं जीता रहूँ, मेरे प्राण बने रहें'—यह इच्छा बनी रहती है ।* इस इच्छाका होना ही आसुरी-सम्पत्ति है ।

---

* यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५३)

त्यागी-वैरागी साधकमें भी प्राणोंके बने रहनेकी इच्छा रहती है; परंतु उसमें प्राणपोषण-बुद्धि, इन्द्रिय-लोलुपता नहीं रहती; क्योंकि उसका उद्देश्य परमात्मा होता है, न कि शरीर और संसार।

जब साधक भक्तका भगवान्‌में प्रेम हो जाता है, तब उसको भगवान् प्राणोंसे भी प्यारे लगते हैं। प्राणोंका मोह न रहनेसे उसके प्राणोंका आधार केवल भगवान् हो जाते हैं। इसलिये वह भगवान्‌को प्राणनाथ! प्राणेश्वर! प्राणप्रिय! आदि सम्बोधनोंसे पुकारता है। भगवान्‌का वियोग न सहनेसे उसके प्राण भी छूट सकते हैं। कारण कि मनुष्य जिस वस्तुको प्राणोंसे भी बढ़कर मान लेता है, उसके लिये यदि प्राणोंका त्याग करना पड़े तो वह सहर्ष प्राण त्याग देता है, जैसे—पतिव्रता स्त्री पतिको प्राणोंसे भी बढ़कर (प्राणनाथ) मानती है, तो उसका प्राण, शरीर, वस्तु, व्यक्ति आदिमें मोह नहीं रहता। इसीलिये पतिके शान्त हो जानेपर उसके वियोगमें वह प्रसन्नतापूर्वक सती हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि जब केवल भगवान्‌में अनन्यप्रेम हो जाता है, तो फिर प्राणोंका मोह नहीं रहता। प्राणोंका मोह न रहनेसे आसुरी-सम्पत्ति सर्वथा मिट जाती है और दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट हो जाती है। इसी बातका संकेत गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने इस प्रकार किया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस ७। ४८। ३)

सम्बन्ध—

अबतक एक परमात्माका ही उद्देश्य बनानेवालोंकी दैवी-सम्पत्ति बतायी; परंतु सांसारिक भोग भोगना और संग्रह करना ही जिनका उद्देश्य है, ऐसे प्राणपोषणपरायण लोगोंकी कौन-सी सम्पत्ति होती है ?—इसे अब अगले श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

व्याख्या—

'दम्भः'—मान, बड़ाई, पूजा, ख्याति आदि प्राप्त करनेके लिये, अपनी वैसी स्थिति न होनेपर भी वैसी स्थिति दिखानेका नाम 'दम्भ' है । यह दम्भ दो प्रकारसे होता है—

(१) सद्गुण-सदाचारोंको लेकर—अपनेको धर्मात्मा, साधक, विद्वान्, गुणवान् आदि प्रकट करना अर्थात् अपनेमें वैसा आचरण न होनेपर भी अपनेमें श्रेष्ठ गुणोंको लेकर वैसा आचरण दिखाना, थोड़ा होनेपर भी ज्यादा दिखाना, भोगी होनेपर भी अपनेको योगी दिखाना इत्यादि दिखावटी भावों और क्रियाओंका होना—यह सद्गुण-सदाचारोंको लेकर 'दम्भ' है ।

(२) दुर्गुण-दुराचारोंको लेकर—जिनका आचरण, खान-पान अशुद्ध है—ऐसे दुर्गुणी-दुराचारी लोगोंमें जाकर उनको राजी करके अपनी इज्जत जमानेके लिये, मान-आदर आदि प्राप्त करनेके लिये

उनका आचरण, खान-पान अपने मनमें बुरा लगनेपर भी जिसका खान-पान स्वाभाविक उतना अशुद्ध नहीं है—ऐसा व्यक्ति वैसा आचरण, खान-पान कर बैठता है—यह दुर्गुण-दुराचारोंको लेकर दम्भ है।

तात्पर्य यह कि जब मनुष्य प्राण, शरीर, धन, सम्पत्ति, आदर, महिमा आदिको प्रधानता देता है, तब उसमें दम्भ आता है।

'दर्पः'—घमण्डका नाम 'दर्प' है। धन-वैभव, जमीन-जायदाद, मकान-परिवार आदि ममतावाली चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पनका अनुभव होता है, वह 'दर्प' है। जैसे—मेरे पास इतना धन है; मेरा इतना बड़ा परिवार है; मेरा इतना राज्य है, मेरे पास इतनी जमीन-जायदाद है; मेरे पीछे इतने आदमी हैं; मेरी आवाजके पीछे इतने आदमी बोलते हैं; मेरे पक्षमें बहुत आदमी हैं; धन-सम्पत्ति-वैभवमें मेरी बराबरी कौन कर सकता है! मेरे पास ऐसे-ऐसे पद हैं, अधिकार हैं; संसारमें मेरा कितना यश, प्रतिष्ठा हो रही है! मेरे बहुत अनुयायी हैं; मेरा सम्प्रदाय कितना ऊँचा है! मेरे गुरुजी कितने प्रभावशाली हैं! आदि-आदि।

'अभिमानः'—अहंतावाली चीजोंको लेकर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर अपनेमें जो बड़प्पनका अनुभव होता है, उसका नाम 'अभिमान' है*। जैसे—मैं जाति-पाँतिमें कुलीन हूँ;

---

* जहाँ अभिमान और दर्प—दोनोंमेंसे कोई एक आता है, वहाँ अभिमानके ही अन्तर्गत दर्प और दर्पके ही अन्तर्गत अभिमान आ जाता है। परंतु जहाँ ये दोनों एक साथ स्वतन्त्ररूपसे आते हैं, वहाँ दोनोंमें

वर्ण-आश्रममें ऊँचा हूँ; हमारी जातिमें हमारी प्रधानता है;
भरमें हमारी बात चलती है अर्थात् हम जो कह देंगे
तको सभी मानेंगे; हम जिसको सहारा देंगे, उस आदमीसे विरुद्ध
लनेमें सभी लोग भयभीत होंगे और हम जिसके विरोधी होंगे
उसका साथ देनेमें भी सभी लोग भयभीत होंगे; राजदरबारमें भी
हमारा आदर है, इसलिये हम जो कह देंगे, उसे कोई टालेगा नहीं,
हम न्याय-अन्याय जो कुछ भी करेंगे, उसको कोई टाल नहीं सकता,
उसका कोई विरोध नहीं कर सकता; मैं बड़ा विद्वान् हूँ; मैं अणिमा,
हेमा, गरिमा आदि सिद्धियोंको जानता हूँ, इसलिये सारे संसारको
थल-पुथल कर सकता हूँ, आदि-आदि ।

'क्रोधः'—दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये अन्तःकरणमें जो
जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम 'क्रोध' है ।

मनुष्यके स्वभावके विपरीत कोई काम करता है, तो उसके
अन्तःकरणमें जो उत्तेजना होकर जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है,
वह क्रोध है । क्रोध और क्षोभमें अन्तर है । बच्चा उद्दण्डता करता
है; कहना नहीं मानता, तो माता-पिता उत्तेजनामें आक
उसको ताड़ना करते हैं—यह उनका 'क्षोभ' (हृदयकी हलचल
है, क्रोध नहीं । कारण कि उनमें बच्चेका अनिष्ट करनेकी भाव

थोड़ा अन्तर हो जाता है । 'ममता' की चीजोंको लेकर 'दर्प'
'अहंता' की चीजोंको लेकर 'अभिमान' कहा जाता है । अर्थात्
चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पन दीखता है, वह 'दर्प' है और
बुद्धि आदि भीतरी चीजोंको लेकर अपनेमें जो बड़प्पन दीखता
'अभिमान' है ।

होती ही नहीं, प्रत्युत बच्चेके हितकी भावना रहती है। परंतु जब उत्तेजनामें आकर दूसरेका अनिष्ट, अहित करके उसे दुःख देनेमें सुखका अनुभव होता है, वह 'क्रोध' है। आसुरी प्रकृतिवालोंमें यही क्रोध होता है।

क्रोधके वशीभूत होकर मनुष्य न करनेयोग्य काम भी कर बैठता है, जिसके फलस्वरूप स्वयं उसको पश्चात्ताप करना पड़ता है। क्रोधी व्यक्ति उत्तेजनामें आकर दूसरोंका अपकार तो करता है, पर क्रोधसे स्वयं उसका अपकार कम नहीं होता; क्योंकि अपना अनिष्ट किये बिना क्रोधी व्यक्ति दूसरेका अनिष्ट कर ही नहीं सकता। इसमें भी एक मर्मकी बात है कि क्रोधी व्यक्ति जिसका अनिष्ट करता है, उसका किन्हीं दुष्कर्मोंका फल भोगरूपसे आनेवाला है, वही होगा अर्थात् उसका कोई नया अनिष्ट नहीं हो सकता; परंतु क्रोधी व्यक्तिका दूसरेका अनिष्ट करनेकी भावनासे और अनिष्ट करनेसे नया पाप-संग्रह हो जायगा तथा उसका स्वभाव भी बिगड़ जायगा। यह स्वभाव उसे नरकोंमें ले जानेका हेतु बन जायगा और वह जिस योनिमें जायगा, वहीं उसे दुःख देगा।

क्रोध स्वयंको ही जलाता है*। क्रोधी व्यक्तिकी संसारमें अच्छी ख्याति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा ही होती है। खास अपने

---

* क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां देहस्थितो देहविनाशनाय।
यथास्थितः काष्ठगतो हि वह्निः स एव वह्निः दहते शरीरम्॥

'क्रोध ही मनुष्यका प्रथम शत्रु है, जो देहमें स्थित होकर देहका ही विनाश करता है। जैसे लकड़ीमें स्थित अग्नि लकड़ीको ही जलाती है, वैसे देहमें स्थित क्रोधरूपी अग्नि देहको ही जलाती है।'

घरके आदमी भी क्रोधीसे डरते हैं। सोल्हवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने क्रोधको नरकोंका दरवाजा बताया है। जब मनुष्यके स्वार्थ और अभिमानमें बाधा पड़ती है, तब क्रोध पैदा होता है। फिर क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे मनुष्यका पतन हो जाता है (गीता २। ६२-६३)।

'पारुष्यम्'—कठोरताका नाम 'पारुष्य' है। यह कई प्रकारका है, जैसे—शरीरसे अकड़कर चलना, टेढ़े चलना—यह शारीरिक पारुष्य है। नेत्रोंसे टेढ़ा-टेढ़ा देखना—यह नेत्रोंका पारुष्य है। ... कठोर बोलना, जिससे दूसरे भयभीत हो जायँ—यह वाणीका ... है। दूसरोंपर आफत, संकट, दुःख आनेपर भी उनकी सहायता न करके राजी होना आदि जो कठोर भाव होते हैं, वह हृदयका पारुष्य है।

जो शरीर और प्राणोंके साथ एक हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंको यदि दूसरोंकी क्रिया, वाणी बुरी लगती है, तो उसके बदलेमें वे उनको कठोर वचन सुनाते हैं, दुःख देते हैं और स्वयं राजी होकर कहते हैं कि 'आपने देखा कि नहीं? मैंने उसके साथ ऐसा कड़ा व्यवहार किया कि उसके दाँत खट्टे कर दिये! अब वह मेरे साथ बोल सकता है क्या?' यह सब व्यवहारका पारुष्य है।

स्वार्थबुद्धिकी अधिकता रहनेके कारण मनुष्य अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये, अपनी क्रियाओंसे दूसरोंको कष्ट होगा, उनपर कोई आफत आयेगी—इन बातोंपर विचार ही नहीं कर सकता। हृदयमें कठोर भाव होनेसे वह केवल अपना मतलब देखता है और

उसके मन, वाणी, शरीर, बर्ताव आदि सब जगह कठोरता रहती है। स्वार्थभावकी बहुत ज्यादा वृत्ति बढ़ती है, तो वह हिंसा आदि भी कर बैठता है, जिससे उसके स्वभावमें स्वाभाविक ही क्रूरता आती है। क्रूरता आनेपर हृदयमें सौम्यता बिल्कुल नहीं रहती। सौम्यता न रहनेसे उसके बर्तावमें, लेन-देनमें स्वाभाविक ही कठोरता रहती है। इस वास्ते वह केवल दूसरोंसे रुपये ऐंठने, दूसरोंको दुःख देने आदिमें लगा रहता है। इसके परिणाममें मुझे सुख होगा या दुःख—इसका वह विचार नहीं कर सकता।

'अज्ञानम्'—यहाँ 'अज्ञान' नाम अविवेकका है। अविवेकी पुरुषोंको सत्-असत्, सार-असार, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका बोध नहीं होता। कारण कि उनकी दृष्टि नाशवान् पदार्थोंके भोग और संग्रहपर ही लगी रहती है। इस वास्ते (परिणामपर दृष्टि न रहनेसे) वे यह सोच ही नहीं सकते कि ये नाशवान् पदार्थ कबतक हमारे साथ रहेंगे और हम कबतक इनके साथ रहेंगे। पशुओंकी तरह केवल प्राण-पोषणमें ही लगे रहनेके कारण वे क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है—इन बातोंको नहीं जान सकते और न जानना ही चाहते हैं।

वे तात्कालिक संयोगजन्य सुखको ही सुख मानते हैं और शरीर तथा इन्द्रियोंके प्रतिकूल संयोगको ही दुःख मानते हैं। इसलिये वे 'सुख कैसे मिले?' इसके लिये ही उद्योग करते हैं, पर परिणाममें पहलेसे भी अधिक दुःख मिलता है।* फिर भी उनको चेत नहीं

* कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥
(श्रीमद्भा० ११।३।[illegible])

सम्बन्धका तात्पर्य है—प्रकृतिके कार्य शरीरमें 'मैं-मेरे' का सम्बन्ध (तादात्म्य) और पदार्थोंमें ममता, आसक्ति तथा कामनाका होना। शरीरमें 'मैं-मेरे' का सम्बन्ध ही आसुरी-सम्पत्तिका मूलभूत लक्षण है। जिसका प्रकृतिके साथ मुख्यतासे सम्बन्ध है, उसीके लिये यहाँ कहा गया है कि वह आसुरी-सम्पत्तिको लेकर उत्पन्न हुआ है।

प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जीवका अपना किया हुआ है। अतः वह जब चाहे इस सम्बन्धका त्याग कर सकता है। कारण कि जीव (आत्मा) चेतन तथा नित्य है और प्रकृति जड तथा अनित्य है, इसलिये चेतनका जडसे सम्बन्ध वास्तवमें है नहीं, केवल मान रखा है। इस सम्बन्धको छोड़ते ही आसुरी-सम्पत्ति सर्वथा मिट जाती है। इस प्रकार मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्तिको मिटानेकी पूरी योग्यता है। तात्पर्य यह कि आसुरी-सम्पत्तिको लेकर पैदा होते हुए भी वह प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके आसुरी-सम्पत्तिको मिटा सकता है।

प्राणोंमें मनुष्यका ज्यों-ज्यों मोह होता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों आसुरी-सम्पत्ति अधिक बढ़ती जाती है। आसुरी-सम्पत्तिके अत्यधिक बढ़नेपर मनुष्य अपने प्राणोंको रखनेके लिये और सुख भोगनेके लिये दूसरोंका नुकसान भी कर देता है। इतना ही नहीं, दूसरोंकी हत्या कर देनेमें भी वह नहीं हिचकता।

मनुष्य जब अस्थायीको स्थायी मान लेता है, तब आसुरी-सम्पत्तिके दुर्गुण-दुराचारोंके समूह-के-समूह उसमें आ जाते हैं। तात्पर्य यह कि असत्‌का सङ्ग होनेसे असत्-आचरण, असत्-भाव

होता कि इसका हमारे लिये नतीजा क्या होगा ? वे तो मान-बड़ाई, सुख-आराम, धन-सम्पत्ति आदिके प्रलोभनमें आकर न करनेलायक काम भी करने लग जाते हैं, जिनका नतीजा उनके लिये तथा दुनियाके लिये भी बड़ा अहितकारक होता है।

'अभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्'—हे पार्थ ! ये सब आसुरीसम्पत्ति*की प्रधानताको लेकर पैदा हुए मनुष्योंके लक्षण हैं। मरणधर्मा शरीरके साथ एकता मानकर 'मैं कभी मरूँ नहीं; सदा जीता रहूँ और सुख भोगता रहूँ'—ऐसी इच्छावाले मनुष्यके अन्तःकरणमें ये लक्षण होते हैं।

अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि प्रकृतिके गुणोंके सम्बन्धसे कोई भी साधारण प्राणी सर्वथा रहित नहीं है†। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध लेकर ही पैदा होता है। प्रकृतिके साथ

---

* यहाँ 'आसुरी' शब्दमें देवताओंका विरोधवाचक 'नञ्' समास नहीं है, प्रत्युत 'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुराः' के अनुसार जो मनुष्य केवल इन्द्रियों और प्राणोंका पोषण करनेमें ही लगे हुए हैं अर्थात् जो केवल संयोगजन्य सुखमें ही आसक्त हैं, उन मनुष्योंका वाचक यहाँ 'असुर' शब्द है। तात्पर्य यह कि जिनका उद्देश्य परमात्माको प्राप्त करना नहीं है और जो शरीर धारण करके केवल भोग भोगना चाहते हैं, वे असुर हैं। उन असुरोंकी सम्पत्तिका नाम 'आसुरी-सम्पत्ति' है।

† न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
(गीता १८।४०)

सम्बन्धका तात्पर्य है—प्रकृतिके कार्य शरीरमें 'मैं-मेरे' का सम्बन्ध (तादात्म्य) और पदार्थोंमें ममता, आसक्ति तथा कामनाका होना। शरीरमें 'मैं-मेरे' का सम्बन्ध ही आसुरी-सम्पत्तिका मूलभूत लक्षण है। जिसका प्रकृतिके साथ मुख्यतासे सम्बन्ध है, उसीके लिये यहाँ कहा गया है कि वह आसुरी-सम्पत्तिको लेकर उत्पन्न हुआ है।

प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जीवका अपना किया हुआ है। अतः यह जब चाहे इस सम्बन्धका त्याग कर सकता है। कारण कि जीव (आत्मा) चेतन तथा नित्य है और प्रकृति जड़ तथा अनित्य है, इसलिये चेतनका जड़से सम्बन्ध वास्तवमें है नहीं, केवल मान रखा है। इस सम्बन्धको छोड़ते ही आसुरी-सम्पत्ति सर्वथा मिट जाती है। इस प्रकार मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्तिको मिटानेकी पूरी योग्यता है। तात्पर्य यह कि आसुरी-सम्पत्तिको लेकर पैदा होते हुए भी वह प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके आसुरी-सम्पत्तिको मिटा सकता है।

प्राणोंमें मनुष्यका ज्यों-ज्यों मोह होता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों आसुरी-सम्पत्ति अधिक बढ़ती जाती है। आसुरी-सम्पत्तिके अत्यधिक बढ़नेपर मनुष्य अपने प्राणोंको रखनेके लिये और सुख भोगनेके लिये दूसरोंका नुकसान भी कर देता है। इतना ही नहीं, दूसरोंकी हत्या कर देनेमें भी यह नहीं हिचकता।

मनुष्य जब अस्थायीको स्थायी मान लेता है, तब आसुरी-सम्पत्तिके दुर्गुण-दुराचारोंके समूह-के-समूह उसमें आ जाते हैं। तात्पर्य यह कि असत्‌का सङ्ग होनेसे असत्-आचरण, असत्-भाव

और दुर्गुण बिना बुलाये तथा बिना उद्योग किये अपने-आप आते हैं, जो मनुष्यको परमात्मासे विमुख करके अधोगतिमें ले जानेवाले हैं।

सम्बन्ध—

अब भगवान् दैवी और आसुरी—दोनों प्रकारकी सम्पत्तियोंका फल बताते हैं।

श्लोक—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

व्याख्या—

'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'—मेरेको भगवान्‌की तरफ ही चलना है—यह भाव साधकमें जितना स्पष्टरूपसे आ जाता है, उतना ही वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है। भगवान्‌के सम्मुख होनेसे उसमें संसारसे विमुखता आ जाती है। संसारसे विमुखता आ जानेसे आसुरी-सम्पत्तिके जितने दुर्गुण-दुराचार हैं, वे कम होने लगते हैं और दैवी-सम्पत्तिके जितने सद्‌गुण-सदाचार हैं, वे प्रकट होने लगते हैं। इससे साधककी भगवान्‌में और भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, चरित्र आदिमें रुचि हो जाती है।

इसमें विशेषतासे ध्यान देनेकी बात है कि साधकका उद्देश्य जितना दृढ़ होगा, उतना ही उसका परमात्माके साथ जो अनादिकालका सम्बन्ध है, वह प्रकट हो जायगा और संसारके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, वह मिट जायगा। मिट क्या जायगा, वह तो

प्रतिक्षण मिट ही रहा है! वास्तवमें प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है नहीं। केवल इस जीवने सम्बन्ध मान लिया है। इस माने हुए सम्बन्धकी सद्भावनापर अर्थात् 'शरीर ही मैं हूँ और शरीर ही मेरा है'—इस सद्भावनापर ही संसार टिका हुआ है। इस सद्भावनाके मिटते ही संसारसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जायगा और दैवी-सम्पत्तिके सम्पूर्ण गुण प्रकट हो जायँगे, जो कि मुक्तिके हेतु हैं।

दैवी-सम्पत्ति केवल अपने लिये ही नहीं है, प्रत्युत मात्र प्राणियोंके कल्याणके लिये है। जैसे, गृहस्थमें छोटे-बड़े-बूढ़े आदि अनेक सदस्य होते हैं, पर सबका पालन-पोषण करनेके लिये गृहस्वामी (घरका मुखिया) स्वयं उद्योग करता है, ऐसे ही दुनियामात्रका उद्धार करनेके लिये भगवान्ने मनुष्यको बनाया है। वह मनुष्य और तो क्या, भगवान्की दी हुई विलक्षण शक्तिके द्वारा भगवान्के सम्मुख होकर, भगवान्की सेवा करके उन्हें भी अपने वशमें कर सकता है। ऐसा विचित्र अधिकार उसे दिया है! अब मनुष्य उस अधिकारके अनुसार यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, जप, ध्यान, स्वाध्याय, सत्सङ्ग आदि जितना साधन-समुदाय है, उसका अनुष्ठान केवल अनन्त ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंके कल्याणके लिये ही करे और दृढ़तासे यह संकल्प रखते हुए प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! मात्र जीवोंका कल्याण हो, मात्र जीव जीवन्मुक्त हो जाय, मात्र जीव आपका अनन्य प्रेमी भक्त बन जाय; पर हे नाथ! यह होगा केवल आपकी कृपासे ही। मैं तो केवल प्रार्थना कर सकता हूँ और वह भी आपकी दी हुई सद्बुद्धिके द्वारा ही!' ऐसा भाव रखते हुए अपनी कहलानेवाली शरीर, इन्द्रियाँ,

मन, बुद्धि, धन-सम्पत्ति आदि सभी चीजोंको मात्र दुनियाके कल्याणके लिये भगवान्‌के अर्पण कर दे।* ऐसा करनेसे अपनी कहलानेवाली चीजोंकी तो संसारके साथ और अपनी भगवान्‌के साथ स्वतः सिद्ध एकता प्रकट हो जायगी। इसे भगवान्‌ने 'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' पदोंसे कहा है।

'निबन्धायासुरी मता'—जो जन्म-मरणको देनेवाली है, वह सब आसुरी-सम्पत्ति है।†

---

* मात्र जीवके कल्याणका जो भाव है, वह भाव भी भगवान्‌की ही दी हुई विभूति (दैवी-सम्पत्ति) है, अपना नहीं है। अपने तो केवल भगवान् ही हैं।

† भगवान्‌ने इस अध्यायमें आसुरी-सम्पदाके तीन फल बताये हैं। जिनमेंसे इस श्लोकमें **'निबन्धायासुरी मता'** पदोंसे बन्धनरूप सामान्य फल बताया। दूसरे अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकोंमें वर्णित और नवें अध्यायके बीसवें-इक्कीसवें श्लोकोंमें वर्णित सकाम उपासक इसीमें आ जाते हैं। जिनका उद्देश्य केवल भोग भोगना और संग्रह करना है, ऐसे मनुष्योंकी बहुत शाखाओंवाली अनन्त बुद्धियाँ होती हैं अर्थात् उनकी कामनाओंका कोई अन्त नहीं होता। जो कामनाओंमें तन्मय हैं और कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, वे वैदिक यज्ञादिको विधि-विधानसे करते हैं, पर कामनाओंके कारण उनको जन्मकर्मरूप फल अर्थात् जन्म-मरणरूप बन्धन होता है (गीता २। ४१–४४)। ऐसे ही जो यहाँके भोगोंको न चाहकर स्वर्गके दिव्य भोगोंकी कामनासे शास्त्रविहित यज्ञ करते हैं, वे यज्ञके फलस्वरूप (स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप नष्ट होनेसे) स्वर्गमें जाकर दिव्य भोग भोगते हैं। जब उनके (स्वर्ग देनेवाले) पुण्य

क्षीण हो जाते हैं, तब वे वहाँसे लौटकर आवागमनको प्राप्त हो जाते हैं (गीता ९ । २०-२१) ।

अब यहाँ शङ्का यह होती है कि जिस कृष्णमार्ग (गीता ८ । २५) से उपर्युक्त सकाम पुरुष जाते हैं, उसी मार्गसे योगभ्रष्ट पुरुष (गीता ६ । ४१-४२) भी जाते हैं; अतः दोनोंका मार्ग एक होनेसे और दोनों पुनरावर्ती होनेसे सकाम पुरुषोंके समान योगभ्रष्ट पुरुषोंको भी 'निबन्धायासुरी मता' वाला बन्धन होना चाहिये । इसका समाधान यह है कि योगभ्रष्टोंको यह बन्धन नहीं होता । कारण कि पूर्व साधनामें उनका उद्देश्य अपने कल्याणका रहा है और अन्त समयमें वासना, बेहोशी, पीड़ा आदिके कारण उनको विघ्नरूपसे स्वर्गादिमें जाना पड़ता है । अतः इन योगभ्रष्टोंके इस मार्गसे जानेके कारण ही (गीता ८ । २५में) सकाम पुरुषोंके लिये भी 'योगी' पद आया है, अन्यथा सकाम पुरुष योगी कहे ही नहीं जा सकते; क्योंकि गीतामें 'योगी' नाम समतावालोंका है ।

ऐसे योगभ्रष्टोंके लिये भगवान्ने गीतामें जगह-जगह बन्धन न होनेका उल्लेख किया है; जैसे—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥' (२ । ४०); 'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥' (६ । ४०); 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥' (६।४४); 'अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥' (८।२८) इत्यादि ।

आसुरी-सम्पत्तिका दूसरा फल है—'पतन्ति नरकेऽशुचौ' (१६ । १६) । जो कामनाके वशीभूत होकर पाप, अन्याय, दुराचार आदि करते हैं, उनको फलस्वरूप स्थानविशेष नरकोंकी प्राप्ति होती है ।

आसुरी-सम्पत्तिका तीसरा फल है—'आसुरीष्वेव योनिषु,' 'ततो यान्त्यधमां गतिम्' (गीता १६ । १९-२०) । जिनके भीतर दुर्गुण-दुर्भाव रहते हैं और कभी-कभी उनसे प्रेरित होकर वे दुराचार भी कर बैठते हैं, उनको दुर्गुण-दुर्भावोंके अनुसार पहले तो आसुरी योनिकी प्राप्ति,

और फिर दुराचारके अनुसार अधम गति (नरकों) की प्राप्ति बतायी गयी है ।

उपर्युक्त (गीता ६ । ४१-४२ में वर्णित) योगसे विचलित हुए साधक अर्थात् एक सांसारिक वासनाओंको बलपूर्वक रोककर योगमें लगनेवाला और दूसरा सांसारिक वासनाओंसे रहित होकर अपने पुरुषार्थके बलपर योगमें लगनेवाला—ये दोनों अन्त समयमें किसी वासना, मनकी चञ्चलता, शरीरकी पीड़ा आदि किसी कारणसे योगभ्रष्ट हो जाते हैं; परंतु जिनका साधन और साध्य, उपाय और उपेय एकमात्र परमात्मा ही हैं—ऐसे भगवान्के आश्रित भक्त योगभ्रष्ट नहीं होते [भगवान्की इच्छासे जगत्के उद्धारके लिये वे कारक पुरुषोंके रूपमें फिर आ भी सकते हैं]; क्योंकि अन्तसमयमें बेहोशी, पीड़ावश भगवत्स्मृति न रहनेपर भी उनकी सँभाल भगवान् करते हैं । भगवान् कहते हैं—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम् ।

वह शुभ कर्म करके ब्रह्मलोकतक भी चला जाय, तो भी वह बन्धनमें ही रहेगा ।

अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

'काष्ठ और पाषाणके सदृश म्रियमाण उस भक्तका मैं स्वयं स्मरण करता हूँ और उसको परमगति प्रदान करता हूँ ।'

कफवातादिदोषेण मद्भक्तो न च मां स्मरेत् ।
तस्य स्मराम्यहं नो चेत् कृतघ्नो नास्ति मत्परः ॥

'कफ-वातादि दोषोंके कारण मेरा भक्त यदि मृत्युके समय मेरा स्मरण नहीं कर पाता, तो मैं स्वयं उसका स्मरण करता हूँ । यदि मैं ऐसा न करूँ, तो मेरेसे बढ़कर कृतघ्न कोई नहीं हो सकता ।'

ऐसे भगवन्निष्ठ भक्तोंके लिये भगवान्ने गीतामें कहा है—'स मे युक्ततमो मतः' (६ । ४७) 'वह मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है'; 'न मे भक्तः प्रणश्यति' (९ । ३१) 'मेरे भक्तका पतन नहीं होता'; 'ते मे युक्ततमा

जबतक मनुष्यकी अहंताका परिवर्तन नहीं होता, तबतक अच्छे-अच्छे गुण धारण करनेपर वे निरर्थक तो नहीं जायँगे, पर उनसे उसकी मुक्ति हो जायगी—ऐसी बात नहीं है। तात्पर्य यह कि जबतक 'मेरा शरीर बना रहे, मेरेको सुख-आराम मिलता रहे' इस

मताः' (१२।२) 'वे मुझे योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं'; 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् भवामि नचिरात्' (१२।७) 'उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसारसागरसे शीघ्र उद्धार करनेवाला होता हूँ'; 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' (१२।२०) 'वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं'; 'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्' (१८।५६) 'वे मेरी कृपासे अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं'; 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि' (१८।५८) 'मेरेमें चित्तवाला मेरी कृपासे समस्त विघ्नोंसे तर जाता है'; 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' (१८।६६) 'मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर'।

इसी प्रकार भागवतमें भक्तोंका पतन न होनेके विषयमें कहा गया है—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥
(१०।२।३३)

'भगवन्! जो आपके अपने निज जन हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति अपने साधनमार्गसे गिरते नहीं। प्रभो! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवालोंकी सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकते; क्योंकि उनके रक्षक आप जो हैं।'

प्रकारके विचार अहंतामें बैठे रहेंगे, तबतक ऊपरसे भरे हुए दैवी-सम्पत्तिके गुण मुक्तिदायक नहीं होंगे। हाँ, यह बात तो हो सकती है कि वे गुण उसको शुभ फल देनेवाले हो जायँगे, ऊँचे लोक देनेवाले हो जायँगे, पर मुक्ति नहीं देंगे।

जैसे बीजको मिट्टीमें मिला देनेपर मिट्टी, जल, हवा, धूप—ये सभी उस बीजको ही पुष्ट करते हैं; आकाश भी उसे अवकाश देता है; बीजसे उसी जातिका वृक्ष पैदा होता है और उस वृक्षमें उसी जातिके फल लगते हैं। ऐसे ही अहंता (मैं-पन)में संसारके संस्काररूपी बीज रखते हुए जिस शुभ कर्मको करेंगे, वह शुभ कर्म उन बीजोंको ही पुष्ट करेगा और उन बीजोंके अनुसार ही फल देगा। तात्पर्य यह कि सकाम मनुष्यकी अहंताके भीतर संसारके जो संस्कार पड़े हैं, उन संस्कारोंके अनुसार उसकी सकाम साधनामें अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ आती हैं तथा उसमें और कुछ विशेषता भी आयेगी, तो वह ब्रह्मलोक आदि लोकोंमें जाकर वहाँके ऊँचे-ऊँचे भोग प्राप्त कर सकता है, पर उसकी मुक्ति नहीं होगी।*

अब प्रश्न यह होता है कि मनुष्य मुक्तिके लिये क्या करे? उत्तर यह है कि जैसे बीजको भून दिया जाय या उबाल दिया जाय, तो वह बीज अङ्कुर नहीं देगा।† उस बीजको बोया जाय, तो पृथ्वी उसको अपने साथ मिला लेगी। फिर यह पता ही नहीं

---

* आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। (गीता ८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं।'

† भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। २२। २६)

चलेगा कि बीज था या नहीं ! ऐसे ही मनुष्यका जब दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मुझे केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है, तो संसारके सब बीज (संस्कार) अहंतामेंसे नष्ट हो जायँगे ।

शरीर-प्राणोंमें एक प्रकारकी आसक्ति होती है कि मैं सुख-पूर्वक जीता रहूँ, मेरेको मान-बड़ाई मिलती रहे, मैं भोग भोगता रहूँ आदि । इस प्रकार जो व्यक्तित्वको रखकर चलते हैं, उनमें अच्छे गुण आनेपर भी आसक्तिके कारण उनकी मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण प्रकृतिका सम्बन्ध ही है (गीता १३ । २१) । तात्पर्य यह कि जिसने प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध जोड़ा हुआ है ।

'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'—भगवान् कहते हैं कि हे पाण्डव ! तू दैवी-सम्पत्तिको प्रधानताको लेकर पैदा हुआ है, इसलिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ।

केवल अविनाशी परमात्माको चाहनेवालेकी दैवी-सम्पत्ति होती है, जिससे मुक्ति होती है और विनाशी संसारके भोग और संग्रहको चाहनेवालेकी आसुरी-सम्पत्ति होती है, जिससे बन्धन होता है । इस बातको सुनकर निरभिमानी अर्जुनके मनमें कहीं यह शङ्का पैदा न हो जाय कि मुझे तो अपनेमें दैवी-सम्पत्ति दीखती ही नहीं ! इसलिये भगवान् कहते हैं कि 'भैया अर्जुन ! तुम दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हो; अतः शोक-संदेह मत करो ।'

दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हो जानेपर साधकके द्वारा कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोगका साधन स्वाभाविक ही होता है । अपने

कर्तव्य-पालनसे कर्मयोगीके और ज्ञानाग्निसे ज्ञानयोगीके सभी पाप नष्ट होते हैं ।* परंतु भक्तियोगीके सभी पाप भगवान् नष्ट करते हैं और संसारसे उसका उद्धार करते हैं ।†

'मा शुचः'‡—तीसरे श्लोकमें 'भारत' चौथे श्लोकमें 'पार्थ' और इस पाँचवें श्लोकमें 'पाण्डव'—इन तीन सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनको उत्साह दिलाते हैं कि 'भारत ! तुम्हारा वंश बड़ा श्रेष्ठ है; पार्थ ! तुम उस माता (पृथा)के पुत्र हो, जो वैरभाव रखनेवालोंकी भी सेवा करनेवाली है; पाण्डव ! तुम बड़े धर्मात्मा और श्रेष्ठ पिता (पाण्डु)के पुत्र हो'; तात्पर्य यह कि वंश, माता और पिता—इन तीनों ही दृष्टियोंसे तुम श्रेष्ठ हो; अतः तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति भी स्वाभाविक है। इसलिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ।

गीतामें दो बार 'मा शुचः' पद आये हैं—एक यहाँ और दूसरा अठारहवें अध्यायके छियासठवें श्लोकमें । इन पदोंका दो बार प्रयोग करके भगवान् अर्जुनको समझाते हैं कि तुझे साधन और सिद्धि-दोनोंके ही विषयमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये । साधनके

---

* यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ (गीता ४ । २३)
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ (गीता ४ । ३७)

† अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । (गीता १२ । ७)

‡ यहाँ 'मा शुचः' क्रिया दिवादिगणकी 'शुचिर् पूतीभावे' धातुके लङ् लकारका रूप है ।

विषयमें यहाँ यह आश्वासन दिया कि तू दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त हुआ है और सिद्धिके विषयमें (१८ । ६६ में) यह आश्वासन दिया कि मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तात्पर्य यह कि साधकको अपने साधनमें जो कमियाँ दीखती हैं, उनको तो वह दूर करता रहता है, पर कमियोंके कारण उसके अन्तःकरणमें नम्रताके साथ एक निराशा-सी रहती है कि मेरेमें अच्छे गुण कहाँ हैं, जिससे साध्यकी प्राप्ति हो ? साधककी इस निराशाको दूर करनेके लिये भगवान् अर्जुनको साधकमात्रका प्रतिनिधि बनाकर उसे यह आश्वासन देते हैं कि तुम साधन और साध्यके विषयमें चिन्ता-शोक मत करो, निराश मत होओ।

दैवी-सम्पत्तिवाले पुरुषोंका यह स्वभाव होता है कि उनके सामने अनुकूल या प्रतिकूल कोई भी परिस्थिति, घटना आये, उनकी दृष्टि हमेशा अपने कल्याणकी तरफ ही रहती है। युद्धके मौकेपर जब भगवान्ने अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीच खड़ा किया, तब उन सेनाओंमें खड़े अपने कुटुम्बियोंको देखकर अर्जुनमें कौटुम्बिक स्नेहरूपी मोह पैदा हो गया और वे करुणा और शोकसे व्याकुल होकर युद्धरूप कर्तव्यसे हटने लगे। उन्हें विचार हुआ कि युद्धमें कुटुम्बियोंको मारनेसे मुझे पाप ही लगेगा, जिससे मेरे कल्याणमें बाधा लग जायगी। इन्हें मारनेसे मुझे नाशवान् राज्य और सुखकी प्राप्ति तो हो जायगी, पर उससे श्रेय (कल्याण) की प्राप्ति रुक जायगी। इस प्रकार अर्जुनमें कुटुम्बका मोह और पाप (अन्याय, अधर्म) का भय—दोनों एक साथ आ जाते हैं। उनमें जो

कुटुम्बका मोह है, वह आसुरी-सम्पत्ति है और पापके कारण अपने कल्याणमें बाधा लग जानेका जो भय है वह दैवी-सम्पत्ति है।

इसमें भी एक खास बात है। अर्जुन कहता है कि हमने जो युद्ध करनेका 'निश्चय' कर लिया है, यह भी एक महान् पाप है—'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्' (१ । ४५) यह पाप तभी दूर होगा, जब युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्र मुझे मार डालेंगे—'धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्' (१ । ४६) इस प्रकार अर्जुनमें अपने कल्याणकी इच्छा विशेषरूपसे है। तभी वे युद्धक्षेत्रमें भी भगवान्‌से बार-बार अपने कल्याणकी बात पूछते हैं—'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (२ । ७); 'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (३ । २); 'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' (५ । १)। यह उनमें दैवी-सम्पत्तिकी प्रधानता होनेके कारण ही है। इसके विपरीत जिनमें आसुरी-सम्पत्तिकी प्रधानता है ऐसे दुर्योधन आदिमें राज्य और धनका इतना लोभ है कि वे कुटुम्बके नाशसे होनेवाले पापकी तरफ देखते ही नहीं (१ । ३८)। इस प्रकार अर्जुनमें दैवी-सम्पत्तिकी प्रधानता आरम्भसे ही थी। मोहरूप आसुरी-सम्पत्ति तो उनमें आगन्तुकरूपसे आयी थी, जो आगे चलकर भगवान्‌की कृपासे नष्ट हो गयी—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।' (१८ । ७३)। इसीलिये यहाँ भगवान् कहते हैं कि 'भैया अर्जुन! तू चिन्ता मत कर; क्योंकि तू दैवी-सम्पत्तिकी प्रधानताको लेकर ही पैदा हुआ है।'

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति प्रकट है; क्योंकि अर्जुनको अपनेमें दैवी-सम्पत्ति नहीं दीखती। कारण यह कि जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उनको अपनेमें अच्छे गुण नहीं दीखते और अवगुण उनमें रहते नहीं। अपनेमें गुण न दीखनेका कारण यह है कि उनकी गुणोंके साथ अभिन्नता होती है; जैसे—आँखमें लगा हुआ अंजन आँखको नहीं दीखता; क्योंकि वह आँखके साथ एक हो जाता है। ऐसे ही दैवी-सम्पत्तिके साथ अभिन्नता होनेपर गुण नहीं दीखते। अतः जबतक अपनेमें गुण दीखते हैं, तबतक गुणोंके साथ एकता नहीं हुई है। गुण तभी दीखते हैं, जब वे अपनेसे कुछ दूर होते हैं। इस वास्ते भगवान् अर्जुनको आश्वासन देते हैं कि तुम्हारेमें दैवी-सम्पत्ति स्वाभाविक है, भले ही वह तुम्हें न दीखे; इसलिये तुम चिन्ता मत करो।

सम्बन्ध—

सम्पूर्ण प्राणियोंमें चेतन और जड़—दोनोंके अंश रहते हैं। उनमेंसे कई प्राणियोंका जड़तासे विमुख होकर चेतन (परमात्मा) की ओर मुख्यतासे लक्ष्य रहता है और कई प्राणियोंका चेतनसे विमुख होकर जड़ता (भोग और संग्रह) की ओर मुख्यतासे लक्ष्य रहता है। इस प्रकार चेतन और जड़की मुख्यताको लेकर प्राणियोंके दो भेद हो जाते हैं, जिनको भगवान् अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

व्याख्या—

आसुरी सम्पत्तिका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये उसका उपक्रम करते हुए भगवान् कहते हैं कि इस लोकमें प्राणिसमुदाय दो तरहका है—दैव और आसुर। इसमें दैव-स्वभावका विस्तारसे वर्णन किया गया, अब तू मेरेसे आसुर-स्वभावका वर्णन सुन। तात्पर्य यह कि प्राणिमात्रमें परमात्मा और प्रकृति—दोनोंका अंश है (गीता १० । ३९; १८ । ४०)। परमात्माका अंश चेतन है और प्रकृतिका अंश जड़ है। वह चेतन-अंश जब परिवर्तनशील जड़-अंशके सम्मुख हो जाता है, तब उसमें आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है और जब वह जड़ प्रकृतिसे विमुख होकर केवल परमात्माके सम्मुख हो जाता है, तब उसमें दैवी-सम्पत्ति जाग्रत् हो जाती है।

'देव' नाम परमात्माका है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने भी सद्गुण-सदाचार आदि साधन हैं, वे सब दैवी-सम्पदा हैं। जैसे भगवान् नित्य हैं, वैसे ही उनकी साधन-सम्पत्ति भी नित्य है। इस विषयमें भगवान्‌ने कहा है—**'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्'** (गीता ४ । १)—यहाँ परमात्मप्राप्तिके साधनको 'अव्यय' अर्थात् अविनाशी कहा है।

'द्वौ भूतसर्गौ' में 'भूत' शब्दसे देवता, मनुष्य, असुर, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी लिये जा सकते हैं। उनमें आसुर-स्वभावको त्यागनेकी विवेक शक्ति मुख्यरूपसे मनुष्य-शरीरमें ही है। इस वास्ते मनुष्यको आसुर-स्वभावका सर्वथा त्याग करना चाहिये। उसका त्याग होते ही दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट हो जाती है।

ओर ही लक्ष्य है।* परंतु भगवान् तो प्राणिमात्रमें समानरूपसे रहते हैं—'समोऽहं सर्वभूतेषु' (गीता ९ । २९)। तो जहाँ भगवान् रहते हैं, वहाँ उनकी सम्पत्ति भी रहती है। इस वास्ते 'भूतसर्गौ' पद दिया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राणिमात्र भगवान्‌की तरफ चल सकता है। भगवान्‌की तरफसे किसीको मना नहीं है।

मनुष्योंमें जो सर्वथा दुराचारोंमें लगे हुए हैं, वे (चाण्डाल और पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि) पापयोनिवालोंके बजाय अधिक दोषी हैं। कारण कि पाप-योनिवालोंका तो पहलेके पापोंके कारण परवशतासे पाप-योनिमें जन्म होता है और वहाँ उनका पुराने पापोंका फलभोग होता है; परंतु दुराचारी मनुष्य यहाँ जान-बूझकर बुरे आचरणोंमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् नये पाप करते हैं। पाप-योनिवाले तो पुराने पापोंका फल भोगकर उन्नतिकी ओर जाते हैं; और दुराचारी नये-नये पाप करके पतनकी ओर जाते हैं। ऐसे दुराचारियोंके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि यदि अत्यन्त दुराचारी भी मेरी अनन्य शरण होकर मेरा भजन करता है, तो वह भी सदा

---

* गीतामें जगह-जगह मनुष्योंके लिये विशेषतासे कहा गया है—'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' (१५ । २) 'मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली मूलें'; 'क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा' (४ । १२) 'मनुष्यलोकमें कर्मजन्य सिद्धि जल्दी मिलती है', 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्' (९ । ३३), 'अनित्य, सुखरहित इस लोकको—शरीरको प्राप्त करके मेरा भजन कर' इत्यादि।

※

रहनेवाली शान्तिको प्राप्त कर लेता है * ; ऐसे ही पापी-से-पापी भी ज्ञानरूप नौकासे सब पापोंको तरकर अपना उद्धार कर लेता है।† तात्पर्य यह कि जब दुराचारी-से-दुराचारी और पापी-से-पापी व्यक्ति भी भक्ति और ज्ञान प्राप्त करके अपना उद्धार कर सकता है, तो अन्य पाप-योनियोंके लिये भगवान्‌की तरफसे मना कैसे हो सकती है ! इस वास्ते यहाँ 'भूत' (प्राणिमात्र) शब्द दिया है।

मानवेतर प्राणियोंमें भी दैवी प्रकृति पाये जानेकी बहुत बातें सुनने, पढ़ने तथा देखनेमें आती हैं। ऐसे कई उदाहरण आते हैं, जिसमें पशु-पक्षियोंकी योनिमें भी दैवी गुण होनेकी बात आती है।‡

---

* अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

† अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
(गीता ४। ३६)

‡ महाभारतके शान्तिपर्वमें इसी प्रसङ्गकी एक कथा आती है। शकुनिलुब्धक नामका एक वधिक था। उसका मुख्य काम पशु-पक्षियोंको मारना ही था। एक दिन वह शिकारके लिये जंगलमें गया। दिनभर घूमता रहा, पर खानेको कुछ मिला नहीं। अकस्मात् आकाश बादलोंसे भर गया और जोरोंसे आँधी वर्षा होने लगी। वह वधिक एक वृक्षके नीचे आकर बैठ गया।

उसी वृक्षपर दम्पति कपोत और कपोती रहते थे। चुग्गा चुगनेके वास्ते दोनों बाहर गये हुए थे। बरसातके कारण कपोती जल्दी आ गयी। पंख गीले होनेसे वह ठिठुरकर नीचे गिर पड़ी, तो वधिकने उसको पकड़कर

देखा है। गोरखपुरमें जब बारह महीनोंका कीर्तन हुआ था, तब एक काला कुत्ता कीर्तन-मण्डलीके बीचमें चलता और जहाँ इच्छा होती, वहाँ बैठ जाता। ऋषिकेश (स्वर्गाश्रम) में वटवृक्षके नीचे एक साँप आया करता था। वहाँ एक सन्त थे। एक दिन उन्होंने साँपसे कहा 'ठहर', तो वह ठहर गया। सन्तने उसे गीता सुनायी, तो वह चुपचाप बैठा रहा। गीता पूरी होते ही साँप वहाँसे चला गया, और फिर कभी वहाँ नहीं आया। (इस तरहके पशु-पक्षियोंमें ऐसी प्रकृति पूर्वसंस्कारवश स्वाभाविक होती है)।

इस प्रकार पशु-पक्षियोंमें भी दैवी-सम्पत्तिके गुण देखनेमें आते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वहाँ दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके विकासका क्षेत्र और योग्यता नहीं है। उनके विकासका क्षेत्र और योग्यता केवल मनुष्य-शरीरमें ही है।

'दैवो विस्तरशः प्रोक्तः'—भगवान् कहते हैं कि दैवी-सम्पत्तिका मैंने विस्तारसे वर्णन कर दिया। इसी अध्यायके पहले

कबूतरों) को लेने विमान आया और वे दोनों उस विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको चले गये।

उनको इस प्रकार विमानमें जाते हुए देखकर बहेलियेने अपने सब अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये। उसने विचार किया कि अब मैं भजन-स्मरण करूँगा, और त्याग-तपस्या करके इनलोगोंकी तरह जाऊँगा—कुछ खाऊँ-पीऊँगा नहीं। इस तरहका विचार करके वह कण्टकाकीर्ण जंगलमें चला गया। काँटोंसे उसका शरीर छिद गया। आगे वनमें चारों ओरसे आग (दावाग्नि) लगी हुई थी। उसी आगमें घुसकर वह जलकर मर गया। अन्त समयमें भजन-स्मरण करनेसे उसकी सद्गति हो गयी।

श्लोकमें नौ, दूसरे श्लोकमें ग्यारह और तीसरे श्लोकमें छः—इस तरह दैवी-सम्पत्तिके कुल छब्बीस लक्षणोंका वर्णन किया गया है। इससे पहले भी गुणातीतके लक्षणोंमें (१४ । २२-२५), ज्ञानके बीस साधनोंमें (१३ । ७-११), भक्तोंके लक्षणोंमें (१२ । १३-१९), योगीके लक्षणोंमें (६ । ७–९) और स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें (२ । ५५-७१) दैवी–सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन हुआ है।

'आसुरं पार्थ मे शृणु'—भगवान् कहते हैं कि अब तू मुझसे आसुरी-सम्पत्तिको विस्तारपूर्वक सुन अर्थात् जो मनुष्य केवल प्राण-पोषणपरायण होते हैं, उनका स्वभाव कैसा होता है—वह मेरेसे सुन।*

---

* प्राणोंका मोह होनेसे आसुरी-सम्पत्ति पैदा होती है। देहाभिमानमें 'मैं सुखपूर्वक जीता रहूँ' इस प्रकार प्राणोंका मोह रहता है। इसलिये देहाभिमानसे आसुरी-सम्पत्ति पैदा होती है। गीतामें 'देही' (२ । २२), 'देहिनः' (२ । ५९), 'देहवद्भिः' (१२ । ५) और 'देहिनम्' (३ । ४०; १४ । ५, ७)—इन पदोंसे जिन देहाभिमानियोंकी बात आयी है, उन्हें आसुरी-सम्पत्तिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये।

जिसका उद्देश्य परमात्मा है, वह दैवी-सम्पत्तिवाला है और जिसका उद्देश भोग तथा संग्रह है, वह आसुरी-सम्पत्तिवाला है। जबतक आसुरी-सम्पत्ति रहती है, तबतक जन्म-मरण होता रहता है—'निबन्धायासुरी मता'। उद्देश्य परमात्मा होनेसे यदि आसुरी-सम्पत्ति (आसुरी-स्वभावजन्य अवगुण) आंशिकरूपसे रह भी जाय, तो उससे एक-दो जन्म हो सकते हैं, पर बादमें उसकी मुक्ति होगी ही; क्योंकि उसका उद्देश्य संसार नहीं है। इसलिये वह आसुरी-सम्पत्ति उसके लिये उतनी बन्धनकारक नहीं होती, जितनी सांसारिक उद्देश्यवालेके लिये होती है।

सम्बन्ध—

भगवान्से विमुख मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्ति किस क्रमसे आती है, उसका अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं।*

श्लोक—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

व्याख्या—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः'—विवेकशक्ति प्राणिमात्रमें रहती है। परंतु पशु-पक्षी आदि योनियोंमें इसको विकसित करनेका अवसर, स्थान और योग्यता नहीं है, एवं मनुष्यमें उसको विकसित करनेका अवसर, स्थान और योग्यता भी है। पशु-पक्षी आदिमें यह विवेक-शक्ति केवल अपने शरीर-निर्वाहतक ही सीमित रहती है, पर मनुष्य उस विवेकशक्तिसे अपना और अपने

---

* आरम्भमें ही अच्छी शिक्षा न मिलनेसे वे आसुर-प्राणी क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, शरीरकी शुद्धि क्या होती है और अशुद्धि क्या होती है, खान-पान क्या शुद्ध होता है और क्या अशुद्ध होता है, बड़ों और छोटोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये और कैसा नहीं करना चाहिये, वाणी आदिका सत्य क्या होता है और असत्य क्या होता है—इन सब बातोंको नहीं जानते अर्थात् सच्छिक्षाके अभावमें वे प्रवृत्ति और निवृत्तिको, शौचको, सदाचारको और सत्यको नहीं जानते। इस कारण वे सत्य-तत्त्व परमात्मासे विमुख हो जाते हैं। परमात्मासे विमुख होनेसे वे न ईश्वर, धर्म आदिको मानते हैं और न उनकी मर्यादाको ही मानते हैं। वे स्त्री-पुरुषके संगसे ही संसारकी उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेकर वे दूसरोंको दुःख देते हैं और अपना महान् पतन कर लेते हैं

परिवारका तथा अन्य प्राणियोंका भी पालन-पोषण कर सकता है, दुर्गुण-दुराचारोंको त्यागकर सद्गुण-सदाचारोंको ला सकता है। मनुष्य इसमें सर्वथा स्वतन्त्र है; क्योंकि वह साधन-योनि है, परंतु पशु-पक्षी इसमें स्वतन्त्र नहीं हैं; क्योंकि वह भोग-योनि है।

आजके उच्छृङ्खल वातावरण, खान-पान, शिक्षा आदिके प्रभावसे प्रायः मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्तिको अर्थात् किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये—इसको नहीं जानते, और जानना चाहते भी नहीं। कोई इसको बताना चाहे, तो उसको मानते नहीं, प्रत्युत उसकी दिल्लगी उड़ाते हैं। उसे मूर्ख समझते हैं और अभिमानके कारण अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं। कुछ लोग (प्रवृत्ति और निवृत्तिको) जानते भी हैं, पर उनपर आसुरी-सम्पदाका विशेष प्रभाव होनेसे उनकी विहित कार्योंमें प्रवृत्ति और निषिद्ध कार्योंसे निवृत्ति नहीं होती। इस कारण सबसे पहले आसुरी-सम्पत्ति आती है—प्रवृत्ति और निवृत्तिको न जाननेसे।

प्रवृत्ति और निवृत्तिको कैसे जाना जाय? इसे गुरुके द्वारा, ग्रन्थके द्वारा, विचारके द्वारा जाना जा सकता है। इसके अलावा उस मनुष्यपर कोई आफत आ जाय, वह मुसीबतमें फँस जाय, कोई विचित्र घटना घट जाय, तो विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है। किसी महापुरुषके दर्शन हो जानेसे पूर्वसंस्कारवश मनुष्यकी वृत्ति बदल जाती है अथवा जिन स्थानोंपर बड़े-बड़े प्रभावशाली सन्त हुए हैं, उन स्थलोंमें, तीर्थोंमें जानेसे भी विवेकशक्ति जाग्रत् हो जाती है।

जब मनुष्योंकी खाने-पीने आदिमें ही विशेष वृत्ति रहती है, तब उनमें कर्तव्य-अकर्तव्यका होश नहीं रहता। ऐसे मनुष्योंमें पशुओंकी भाँति दैवी-सम्पत्ति छिपी हुई रहती है, सामने नहीं आती। ऐसे मनुष्योंके लिये भी भगवान्‌ने 'जनाः' पद दिया है* अर्थात्

* 'जनाः' (१६।७) से लेकर 'नराधमान्' (१६।१९) पदतक बीचमें आये हुए श्लोकोंमें कहीं भी भगवान्‌ने मनुष्य-वाचक शब्द नहीं दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनुष्यमें आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करनेकी तथा दैवी-सम्पत्तिको धारण करनेकी योग्यता है, तथापि जो मनुष्य होकर भी दैवी-सम्पत्तिको धारण न करके आसुरी-सम्पत्तिको अपनाये रखते हैं, वे मनुष्य कहलाने लायक नहीं हैं। वे पशुओंसे और नारकीय प्राणियोंसे भी गये-बीते हैं; क्योंकि पशु और नारकीय प्राणी बेचारे तो पापोंका फल भोगकर पवित्रताकी तरफ जा रहे हैं, और यह आसुरी-स्वभाववाला मनुष्य जिस पुण्यसे मनुष्य-शरीर मिला है, उसको नष्ट करके और यहाँ नये-नये पाप बटोरकर पशु-पक्षी आदि योनियों तथा नरकोंकी तरफ जा रहा है। अतः इनकी दुर्गतिका वर्णन इसी अध्यायके सोलहवें और उन्नीसवें श्लोकोंमें किया गया है।

भगवान्‌ने आसुरी मनुष्योंके जितने लक्षण बताये हैं, उनमें उनको पशु आदिका विशेषण न देकर 'अशुभान्', 'नराधमान्' विशेषण दिये हैं। कारण यह कि पशु आदि इतने पापी नहीं हैं और उनके दर्शनसे पाप भी नहीं लगता, पर आसुरी मनुष्योंसे विशेष पाप होते हैं और उनके दर्शनसे पाप लगता है, अपवित्रता आती है। इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'नरः' पद देकर यह बताते हैं कि जो काम-क्रोध-लोभरूप नरकके द्वारोंसे छूटकर अपने कल्याणका आचरण करता है, वही मनुष्य कहलाने लायक है। पाँचवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी 'नरः' पदसे इसी बातको पुष्ट किया गया है।

वे भी मनुष्य कहलानेके लायक हैं; क्योंकि उनमें दैवी-सम्पत्ति प्रकट हो सकती है।

'न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते'—प्रवृत्ति और निवृत्तिको न जाननेसे उन आसुरी-स्वभाववालोंमें शुद्धि-अशुद्धिका खयाल नहीं रहता। उनको सांसारिक बर्तावका, व्यवहारका भी खयाल नहीं होता अर्थात् माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ोंके साथ तथा अन्य मनुष्योंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये और कैसा नहीं करना चाहिये—इस बातको वे जानते ही नहीं। उनमें सत्य नहीं होता अर्थात् वे असत्य बोलते हैं और आचरण भी असत्य ही करते हैं। इन सबका तात्पर्य यह है कि वे पुरुष असुर हैं अर्थात् खाना-पीना, आरामसे रहना तथा मैं जीता रहूँ, संसारका सुख भोगता रहूँ और संग्रह करता रहूँ आदि उद्देश्य होनेसे उनकी शौचाचार और सदाचारकी तरफ दृष्टि ही नहीं जाती।

गीतामें भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके चौवालीसवें श्लोकमें बताया कि वैदिक प्रक्रियाके अनुसार सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए पुरुषोंमें भी परमात्माकी प्राप्तिका एक निश्चय नहीं होता। भाव यह है कि आसुरी-सम्पदाका अंश रहनेके कारण जब ऐसे शास्त्र-विधिसे यज्ञादि कर्मोंमें लगे हुए पुरुष भी परमात्माका एक निश्चय नहीं कर पाते, तब जिन पुरुषोंमें आसुरी-सम्पदा विशेष बढ़ी हुई है अर्थात् जो अन्यायपूर्वक भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, उनकी बुद्धिमें परमात्माका एक निश्चय होना कितना कठिन है!*

---

* न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(गीता ७। १५)

सम्बन्ध—

जहाँ सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ सद्भावोंका भी निरादर होता है अर्थात् सद्भाव दबते चले जाते हैं—अब इसको बताते हैं।

श्लोक—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

व्याख्या—

'असत्यम्'—आसुर-स्वभाववाले पुरुष कहा करते हैं कि यह जगत् असत्य है अर्थात् इसमें कोई भी बात सत्य नहीं है। जितने भी यज्ञ, दान, तप, ध्यान, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत आदि शुभ कर्म किये जाते हैं, उनको वे सत्य नहीं मानते। उनको तो वे एक बहकावा मानते हैं।

'अप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्'—संसारमें आस्तिक पुरुषोंकी धर्म, ईश्वर, परलोक* (पुनर्जन्म) आदिमें श्रद्धा होती है; अतः

'मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढ़लोग मुझको नहीं भजते।'

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥

(मानस ५।४३।२)

* मरनेके बाद जो जन्म होता है, वह चाहे मृत्युलोकमें हो, चाहे किसी अन्य लोकमें हो, चाहे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि किसी योनिविशेषमें हो, वह सब 'परलोक' ही है।

वे इन चीजोंमें प्रतिष्ठित होते हैं। परंतु ये आसुर प्राणी धर्म, ईश्वर आदिमें श्रद्धा नहीं रखते; अतः वे उनमें प्रतिष्ठित नहीं होते। ऐसी ही मान्यता उनकी जगत्के विषयमें होती है। इस जगत्को वे बिना मालिकका कहते हैं अर्थात् इस जगत्को रचनेवाला, इसका शासन करनेवाला, यहाँपर किये हुए पाप-पुण्योंका फल भुगतानेवाला कोई (ईश्वर) नहीं है।*

'अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्'—वे कहते हैं कि स्त्रीको पुरुषकी और पुरुषको स्त्रीकी कामना हो गयी। अतः उन दोनोंके परस्पर संयोगसे यह संसार पैदा हो गया। इसलिये काम ही इस संसारका हेतु है। इसके लिये ईश्वर, प्रारब्ध आदि किसीकी भी क्या जरूरत है? ईश्वर आदिको इसमें कारण मानना ढकोसला है, दुनियाको बहकानामात्र है।

सम्बन्ध—

जहाँ सद्भाव लुप्त हो जाते हैं, वहाँ सद्विचार काम नहीं करते अर्थात् सद्विचार प्रकट ही नहीं होते—इसको अब बतलाते हैं।

श्लोक—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

---

* 'अनीश्वर' पदका तात्पर्य यह है कि आसुरी-सम्पत्तिवाले ईश्वरको नहीं मानते। 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' इस न्यायके अनुसार यह सिद्ध होता है कि ईश्वरकी सत्ता तो है, पर वे उसे स्वीकार नहीं करते। ईश्वरकी सत्ता न माननेसे वे अपार चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं (१६। १०-११), पर ईश्वरकी सत्ताको मानकर उसके आश्रित रहनेवाले दैवीसम्पत्तिवाले मनुष्य निश्चिन्त और अभय रहते हैं।

व्याख्या—

'एतां दृष्टिमवष्टभ्य'—न कोई कर्तव्य-अकर्तव्य है, न शौचाचार-सदाचार है, न ईश्वर है, न प्रारब्ध है, न पाप-पुण्य है, न परलोक है, न किये हुए कर्मोंका कोई दण्ड-विधान है—ऐसी नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेकर वे चलते हैं।

'नष्टात्मानः'—आत्मा कोई चेतन तत्त्व है, आत्माकी कोई सत्ता है—इस बातको वे मानते ही नहीं। वे तो इस बातको मानते हैं कि जैसे कत्था और चूना मिलनेसे एक लाली पैदा हो जाती है, ऐसे ही भौतिक तत्त्वोंके मिलनेसे एक चेतनता पैदा हो जाती है। यह चेतन कोई अलग चीज है—यह बात नहीं है। उनकी दृष्टिमें जड़ ही मुख्य होता है। इस वास्ते वे चेतन-तत्त्वसे बिल्कुल ही विमुख रहते हैं। चेतन-तत्त्व (आत्मा) से विमुख होनेसे उनका पतन हो चुका होता है।

'अल्पबुद्धयः'—उनमें जो विवेक-विचार होता है, वह अत्यन्त ही अल्प, तुच्छ होता है। उनकी दृष्टि केवल दृश्य पदार्थोंपर अवलम्बित रहती है कि कमाओ, खाओ-पीओ और मौज करो। आगे भविष्यमें क्या होगा? परलोकमें क्या होगा? ये बातें उनकी बुद्धिमें नहीं आतीं। यहाँ 'अल्पबुद्धि' का यह अर्थ नहीं है कि हरेक काममें उनकी बुद्धि काम नहीं करती। सत्-तत्त्व क्या है? धर्म क्या है? अधर्म क्या है? सदाचार-दुराचार क्या है? और उनका परिणाम क्या होता है? इस विषयमें उनकी बुद्धि काम नहीं करती। परंतु धनादि वस्तुओंके संग्रहमें उनकी

ुद्धि बड़ी तेज होती है। तात्पर्य यह कि पारमार्थिक उन्नतिके विषयमें उनकी बुद्धि तुच्छ होती है और सांसारिक भोगोंमें फँसनेके लिये उनकी बुद्धि बड़ी तेज होती है।

'उग्रकर्माणः'—वे किसीसे डरते ही नहीं। यदि डरेंगे, तो चोर, डाकू या राजकीय आदमीसे डरेंगे। ईश्वरसे, परलोकसे, मर्यादासे वे नहीं डरते। ईश्वर और परलोकका भय न होनेसे उनके द्वारा बड़े भयानक कर्म होते हैं।

'जगतः क्षयाय प्रभवन्ति'—उनके पास जो शक्ति है, ऐश्वर्य है, सामर्थ्य है, पद है, अधिकार है वह सब-का-सब दूसरों-का नाश करनेमें ही लगता है। दूसरोंका नाश ही उनका उद्देश्य होता है। अपना स्वार्थ पूरा सिद्ध हो या थोड़ा सिद्ध हो अथवा सिद्ध न भी हो; पर वे दूसरोंकी उन्नतिको सह नहीं सकते। दूसरोंका नाश करनेमें ही उनको सुख होता है अर्थात् पराया हक छीनना, किसीको जानसे मार देना—उसीमें उनको प्रसन्नता होती है। सिंह जैसे दूसरे पशुओंको मारकर खा जाता है, दूसरोंके दुःखकी परवा नहीं करता और राजकीय अफसर जैसे दस पचास, सौ रुपयोंके लिये हजारों रुपयोंका सरकारी नुकसान क देते हैं, ऐसे ही अपना स्वार्थ पूरा करनेके लिये दूसरोंका च कितना ही नुकसान हो जाय, उसकी वे परवा नहीं करते असुर-स्वभाववाले पशु-पक्षियोंको मारकर खा जाते हैं और थोड़े-से सुखके लिये दूसरोंको कितना दुःख हुआ—इसको वे ही नहीं सकते।

सम्बन्ध—

जहाँ सत्कर्म, सद्भाव और सद्विचारका निरादर हो जाता है, वहाँ मनुष्य कामनाओंका आश्रय लेकर क्या करता है—इसको बताते हैं।

श्लोक—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्‌गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

व्याख्या—

'काममाश्रित्य दुष्पूरम्'—वे आसुरी-प्रकृतिवाले कभी भी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेते हैं। जैसे कोई मनुष्य भगवान्‌का, कोई कर्तव्यका, कोई धर्मका, कोई परलोक आदिका आश्रय लेता है, ऐसे ही असुर-प्राणी कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेते हैं। उनके मनमें यह बात अच्छी तरहसे जँची हुई रहती है कि कामनाके बिना आदमी पत्थर-जैसा हो जाता है; कामनाके आश्रयके बिना आदमीकी उन्नति हो ही नहीं सकती; आज जितने आदमी नेता, पण्डित, धनी आदि हो गये हैं, वे सब कामनाके कारण ही हुए हैं। इस प्रकार कामनाके आश्रित रहनेवाले भगवान्‌को, परलोकको, प्रारब्ध आदिको नहीं मानते।

अब उन कामनाओंकी पूर्ति किनके द्वारा करें? उसके साथी (सहायक) कौन हैं? तो बताते हैं—'दम्भमानमदान्विताः'। वे दम्भ, मान और मदसे युक्त रहते हैं अर्थात् वे उनके कामना-पूर्तिके बल हैं। जहाँ जिनके मानने जैसा बननेसे अ

वेठीक ! मनोरथ सिद्ध न होनेसे उनको जो दुःख होता है, उसको तो वे ही जानते हैं !

'प्रसक्ताः कामभोगेषु'—वस्तु आदिका संग्रह करने और उसका उपभोग करनेमें तथा मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिमें वे अत्यन्त आसक्त रहते हैं।

'पतन्ति नरकेऽशुचौ'—मोहजाल उनके लिये जीते-जी ही नरक है और मरनेके बाद उन्हें कुम्भीपाक, महारौरव आदि स्थान-विशेष नरकोंकी प्राप्ति होती है। उन नरकोंमें भी वे घोर यातनावाले नरकोंमें गिरते हैं, 'नरके अशुचौ' कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन नरकोंमें महान् असह्य यातना और भयंकर दुःख दिया जाता है, ऐसे घोर नरकोंमें वे गिरते हैं; क्योंकि जिनकी जैसी स्थिति होती है, मरनेके बाद भी उनकी वैसी (स्थितिके अनुसार) ही गति होती है। वे लोग कभी कोई शुभ काम भी करते हैं, तो वह केवल लोगोंको दिखानेके लिये और अपनी महिमाके लिये ही करते हैं तथा इस भावसे करते हैं कि जिससे धन अधिक आ जाय, दूसरोंपर असर पड़ जाय और वे मेरे प्रभावसे प्रभावित हो जायँ, उनकी आँखें खुल जायँ कि मैं क्या हूँ, उन्हें चेत हो जाय आदि। शुभ काम भी वे अविधिपूर्वक ही करते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियोंको अशुद्ध या घोर नरक मिलते हैं।

सम्बन्ध—

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे विमुख हुए आसुरी-सम्पदावाले ... नरक-प्राप्ति बतलाकर, दुराचारोंद्वारा बोये

'अशुचिव्रताः'—उनके व्रत-नियम बड़े अपवित्र होते हैं; जैसे इतने गाँवोंमें, इतने गायोंके बाड़ोंमें आग लगा देनी है; इतने आदमियोंको मार देना है आदि । ये वर्ण, आश्रम, आचार-शुद्धि आदि सब ढकोसलेबाजी है; अतः किसीके भी साथ खाओ-पीओ; हम कथा आदि नहीं सुनेंगे; हम तीर्थ, मन्दिर आदि स्थानोंमें नहीं जायेंगे—ऐसे उनके व्रत-नियम होते हैं ।

ऐसे नियमोंवाले डाकू भी होते हैं । उनका यह नियम रहता है कि बिना मार-पीट किये ही कोई वस्तु दे दे, तो वे लेंगे नहीं । तबतक चोट नहीं लगायेंगे, बावतक खून नहीं टपकेगा, तबतक हम उनकी वस्तु नहीं लेंगे आदि ।

सम्बन्ध—

सत्कर्म, सद्भाव और सद्विचारोंके अभावमें उन आसुरी प्रकृतिवालोंके नियम, भाव और आचरण किस उद्देश्यको लेकर और किस प्रकारके होते हैं, अब उनको अगले दो श्लोकोंमें बतलाते हैं।

श्लोक—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

व्याख्या—

'चिन्ताम्'—आसुरी-सम्पदावाले मनुष्योंमें चिन्ता रहती है; ऐसी चिन्ता होती है, जिसका कोई माप-तौल नहीं है 'अपरिमेयाम्' । जबतक मौत नहीं आती, तबतक उनकी यह चिन्ता मिटती नहीं—'प्रलयान्ताम्' ।

चिन्ताके दो विषय होते हैं—एक पारमार्थिक और दूसरा सांसारिक। मेरा कल्याण, मेरा उद्धार कैसे हो ? परब्रह्म परमात्माका निश्चय कैसे हो ('चिन्ता परब्रह्मविनिश्चयाय') ? इस प्रकार जिनको पारमार्थिक चिन्ता होती है, वे श्रेष्ठ हैं। परंतु आसुरी सम्पदावालोंको ऐसी चिन्ता नहीं होती। वे तो इससे विपरीत सांसारिक चिन्ताके आश्रित रहते हैं कि हम कैसे जीयेंगे ? अपना जीवन-निर्वाह कैसे करेंगे ? हमारे बिना बड़े-बूढ़े किसके आश्रित जीयेंगे ? हमारा मान, आदर, प्रतिष्ठा, इज्जत, प्रसिद्धि, नाम आदि कैसे बने रहेंगे ? मरनेके बाद हमारे बाल-बच्चोंकी क्या दशा होगी ? मर जायँगे तो धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदादका क्या होगा ? धनके बिना हमारा काम कैसे चलेगा ? धनके बिना मकानकी मरम्मत कैसे होगी ? आदि-आदि।

मनुष्य व्यर्थमें ही चिन्ता करता है। निर्वाह तो होता रहेगा। निर्वाहकी चीजें तो बाकी रहेंगी और उनके रहते हुए ही मरेंगे। अपने पास एक लंगोटी रखनेवाले विरक्त-से-विरक्तकी भी फटी लंगोटी और फूटी तूम्बी बाकी बचती है और मरता है पहले। ऐसे ही सभी व्यक्ति वस्तु आदिके रहते हुए ही मरते हैं। यह कायदा नहीं है कि धन पासमें होनेसे आदमी मरता न हो। धन पासमें रहते-रहते ही मर गये और धन पड़ा रहा, काममें नहीं आया——ऐसा हमने सुना है।

एक बहुत बड़ा धनी आदमी था। उसने तिजोरीकी तरह लोहेका एक मजबूत मकान बना रखा था, जिसमें बहुत रत्न रखे

हुए थे। उस मकानके किंवाड़ ऐसे बने हुए थे, जो बंद होनेपर चाबीके बिना खुलते नहीं थे। एक बार वह धनी आदमी बाहर चाबी छोड़कर उस मकानके भीतर चला गया और उसने भूलसे किंवाड़ बंद कर लिये। तो अब चाबीके बिना किंवाड़ न खुलनेसे अन्न, जल, हवाके अभावमें मरते हुए उसने लिखा कि 'इतनी धन-सम्पत्ति आज मेरे पास रहते हुए भी मैं मर रहा हूँ; क्योंकि मुझे भीतर अन्न-जल नहीं मिल रहा है, हवा नहीं मिल रही है।' ऐसे ही खाद्य पदार्थोंके रहनेसे नहीं मरेगा, यह भी कायदा नहीं है। भोगोंके पासमें होते हुए भी ऐसे ही मरेगा। जैसे पेट आदिमें रोग लग जानेपर वैद्य-डाक्टर उसको (अन्न पासमें रहते हुए भी) अन्न खाने नहीं देते। तात्पर्य यह कि मरना हो, तो पदार्थोंके रहते हुए भी मरेगा।

जो अपने पास एक कौड़ीका भी संग्रह नहीं करते, ऐसे विरक्त संतोंको भी प्रारब्धके अनुसार आवश्यकतासे भी अधिक चीजें मिलती हैं*। अतः जीवन-निर्वाह चीजोंके अधीन नहीं है। परंतु इस तत्त्वको आसुरी-प्रकृतिवाले मनुष्य नहीं समझ सकते। वे तो यही समझते हैं कि हम चिन्ता करते हैं, कामना करते हैं, विचार करते

---

* (१) प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुबीर॥
(२) मुर्दे को हरि देत है, कपड़ा लकड़ी आग।
जीवित नर चिन्ता करे, उनका बड़ा अभाग॥
(३) पान नहीं धोती नहीं, नहीं रुपैया रोक।
बाँधन बैठा रामदास, आन मिले सब थोक॥

हैं, उद्योग करते हैं, तभी चीजें मिलती हैं। यदि ऐसा न करें, तो भूखों मरना पड़े।

'कामोपभोगपरमाः'—जो मनुष्य कामनाके अनुसार उपभोग-परायण हैं, उनकी तो हरदम यही कामना रहती है कि सुख-सामग्रीका खूब संग्रह कर लें और भोग भोग लें। उनको तो भोगोंके लिये धन चाहिये, संसारमें बड़ा बननेके लिये धन चाहिये। सुख-आराम, स्वाद-शौकीनी आदिके लिये धन चाहिये। तात्पर्य यह कि उनके लिये भोगोंसे बढ़कर कुछ नहीं है।

'एतावदिति निश्चिताः'—उनका यह निश्चय होता है कि सुख भोगना और संग्रह करना—इसके सिवा और कुछ नहीं है*। इस संसारमें जो कुछ है, वह यही है। अतः उनकी दृष्टिमें परलोक एक ढकोसला है। उनकी मान्यता रहती है कि मरनेके बाद कहीं आना-जाना कुछ नहीं होता। बस, यहाँ शरीरके रहते हुए जितना सुख ले लें, वही ठीक है; क्योंकि मरनेपर तो शरीर यहीं बिखर जायगा†। शरीर स्थिर रहनेवाला है ही नहीं। भोगोंके निश्चयके सामने वे पाप-पुण्य, पुनर्जन्म आदिको भी नहीं मानते।

---

* ऐसे ही स्वर्गको माननेवाले सकाम मनुष्य भी कहते हैं कि स्वर्गसे बढ़कर और कुछ नहीं है—'नान्यदस्तीति वादिनः' (गीता २। ४२) उनकी यही कामना रहती है कि मरनेके बाद हम स्वर्गमें जायँगे और वहाँके दिव्य भोगोंको भोगेंगे। स्वर्गके भोगोंके सामने यहाँके भोग कुछ भी नहीं हैं—ऐसा वे मानते हैं।

† यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

श्लोक—

आशापाशशतैर्बद्धाः　　कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते　　कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

व्याख्या—

'आशापाशशतैर्बद्धाः'—जो आशारूपी सैकड़ों पाशोंसे बँधे हुए हैं अर्थात् इतना धन हो जायगा, इतना मान हो जायगा, शरीरमें नीरोगता आ जायगी आदि सैकड़ों आशाओंकी फाँसी लगी रहती है। आशाकी फाँसीसे बँधे हुए मनुष्यके पास लाखों-करोड़ों रुपये हो जायँ, तो भी उनका मँगतापन नहीं मिटता। उनकी तो यही आशा रहती है कि संतोंसे कुछ मिल जाय, भगवान्‌से कुछ मिल जाय, मनुष्योंसे कुछ मिल जाय। इतना ही नहीं, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, पहाड़-समुद्र आदिसे भी हमें कुछ मिल जाय। इस प्रकार उनमें सदा 'खाऊँ-खाऊँ' बनी रहती है। ऐसे व्यक्तियोंकी सांसारिक आशाएँ कभी पूरी नहीं होतीं (गीता ९। १२)। यदि पूरी हो भी जायँ, तो भी कुछ फायदा नहीं है; क्योंकि यदि वे जीते रहेंगे, तो आशावाली वस्तु नष्ट हो जायगी और आशावाली वस्तु रहेगी, तो वे मर जायँगे अथवा दोनों ही नष्ट हो जायँगे।

जो आशारूपी फाँसीसे बँधे हुए हैं, वे कभी एक जगह स्थिर नहीं रह सकते और जो इस आशारूपी फाँसीसे छूट गये हैं, वे मौजसे एक जगह रहते हैं—

आशा नाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यशृङ्खला ।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत् ॥

'कामक्रोधपरायणाः'—उनका परम अयन, स्थान काम और क्रोध ही होते हैं* अर्थात् अपनी कामनापूर्तिके लिये और क्रोध करके दूसरोंको कष्ट देनेके लिये ही उनका जीवन होता है। काम-क्रोधके परायण मनुष्योंका यह निश्चय रहता है कि कामनाके बिना मनुष्य जड़ हो जाता है। क्रोधके बिना उसका तेज भी नहीं रहता। कामनासे ही सब काम होता है, नहीं तो आदमी काम करे ही क्यों? कामनाके बिना तो आदमीका जीवन ही भार हो जायगा। संसारमें काम और क्रोध ही सार चीज है। इसके बिना लोग हमें संसारमें रहने ही नहीं देंगे। क्रोधसे ही तो शासन चलता है, नहीं तो शासनको मानेगा ही कौन? क्रोधसे दबाकर दूसरोंको ठीक करना चाहिये, नहीं तो लोग हमारा सर्वस्व छीन लेंगे। फिर तो हमारा अपना कुछ अस्तित्व ही नहीं रहेगा आदि।

'ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्'—आसुरी-प्रकृति-वाले मनुष्य बेईमानी, धोखेबाजी, विश्वासघात, टैक्सकी चोरी आदि करके, दूसरोंका हक मारकर, मन्दिर, बालक, विधवा आदिका धन दबाकर और इस तरह अनेक अन्याय-पाप करके धनका संचय करना चाहते हैं। कारण कि उनके मनमें यह बात गहराईसे बैठी रहती है कि आजकलके जमानेमें ईमानदारीसे, न्यायसे कोई धनी थोड़े ही हो सकता है! ये जितने धनी हुए हैं, वे सब अन्याय,

* इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें आये 'दम्भ, मान और मद' तो उनके साथी होते हैं और यहाँ आये 'काम और क्रोध' उनके आश्रय होते हैं।

चोरी, धोखेबाजी करके ही हुए हैं। ईमानदारीसे, न्यायसे काम करनेकी जो बात है, वह तो कहनेमात्रकी है; काममें नहीं आ सकती। यदि हम न्यायके अनुसार काम करेंगे, तो हमें दुःख पाना पड़ेगा और जीवन-धारण करना मुश्किल हो जायगा। ऐसा उन आसुरी-स्वभाववाले व्यक्तियोंका निश्चय होता है।

जो व्यक्ति न्यायपूर्वक स्वर्गके भोगोंकी प्राप्तिके लिये लगे हुए हैं, उनके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि उसे लोगोंकी बुद्धिमें 'हमें परमात्माकी प्राप्ति करना है' यह निश्चय हो ही नहीं सकता (गीता २। ४४)। फिर जो अन्यायपूर्वक धन कमाकर प्राणोंके पोषणमें लगे हुए हैं, उनकी बुद्धिमें परमात्मप्राप्तिका निश्चय कैसे हो सकता है? परंतु वे भी यदि चाहें तो परमात्मप्राप्तिका निश्चय करके साधन-परायण हो सकते हैं। ऐसा निश्चय करनेके लिये किसीको भी मना नहीं है; क्योंकि मनुष्य-जन्म परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है।

सम्बन्ध—

आसुर-स्वभाववाले व्यक्ति लोभ, क्रोध और अभिमानको लेकर किस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं उसे क्रमशः अगले तीन श्लोकोंमें बताते हैं।

श्लोक—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

व्याख्या—

आसुरी-प्रकृतिवाले व्यक्ति लोभके परायण होकर मनोरथ करते रहते हैं कि *इतना धन तो आज मिल गया, इतना और प्राप्त कर*

लूँगा। इतना धन तो मेरे पास है ही, इतना और वहाँसे आ जायगा, और इतना राज्यसे, इतना व्यापारसे आ जायगा। मेरा बड़ा लड़का इतना पढ़ा हुआ है; अतः इतना धन तो उसके व्याहमें आ ही जायगा। इतना धन टैक्सकी चोरीसे बच जायगा, इतना जमीनसे आ जायगा, इतना मकानोंके किरायेसे आ जायगा, इतना व्याजका आ जायगा आदि-आदि। इस प्रकारके मनोरथ धनके लोभसे ... हैं।

जैसे-जैसे उनका लोभ बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे उनके ...रथ भी बढ़ते जाते हैं। जब उनका चिन्तन बढ़ जाता है, ... वे चलते-फिरते हुए, काम-धंधा करते हुए, भोजन करते हुए, मल-मूत्रका त्याग करते हुए और यदि नित्य-कर्म (पाठ-पूजा-जप आदि) करते हैं तो उसे करते हुए भी 'धन कैसे बढ़े' इसका चिन्तन करते रहते हैं। इतनी दुकानें, मिल-कारखाने तो हमने खोल दिये हैं। इतने और खोल देंगे। इतनी गायें-भैंसें, भेड़-बकरियाँ आदि तो हैं ही, इतनी और हो जायँ, इतनी जमीन तो हमारे पास है, पर यह बहुत थोड़ी है, किसी तरहसे और मिल जाय तो बहुत अच्छा हो जायगा। इस प्रकार धन आदि बढ़ानेके विषयमें उनके मनोरथ होते हैं।

जब उनकी दृष्टि अपने शरीर तथा परिवारपर जाती है, तो वे उस विषयमें मनोरथ करने लग जाते हैं कि अमुक-अमुक दवाइयाँ सेवन करनेसे शरीर ठीक रहेगा। सुख-आरामकी अमुक-अमुक चीजें इकट्ठी कर ली जायँ, तो हम सुख और आरामसे रहेंगे। एयरकण्डीशनवाली

गाड़ी मँगवा लें, जिससे बाहरकी गरमी न लगे। ऊनके ऐसे वस्त्र मँगवा लें, जिससे सर्दी न लगे। ऐसा बरसाती कोट या छाता मँगवा लें, जिससे वर्षासे शरीर गीला न हो। ऐसे-ऐसे गहने-कपड़े और शृङ्गार आदिकी सामग्री मँगवा लें, जिससे हम खूब सुन्दर दिखायी दें।

ऐसे मनोरथ करते-करते उनको यह याद नहीं रहता कि हम बूढ़े हो जायँगे तो इस सामग्रीका क्या करेंगे और मरते समय यह सामग्री हमारे क्या काम आयेगी? अन्तमें इस सम्पत्तिका मालिक कौन होगा? बेटा तो कुपूत है; अतः वह सब नष्ट कर देगा। मरते समय यह धन-सम्पत्ति खुदको दुःख देगी। इस सामग्रीके लोभके कारण ही मुझे बेटा-बेटीसे डरना पड़ता है और नौकरोंसे डरना पड़ता है कि कहीं ये लोग हड़ताल न कर दें।

प्रश्न—दैवी-सम्पत्तिको धारण करके साधन करनेवाले साधकके मनमें भी कभी-कभी व्यापार आदिके कार्यको लेकर (इस श्लोककी तरह) 'इतना काम हो गया, इतना काम करना बाकी है और इतना काम आगे हो जायगा इतना पैसा आ गया है और इतना वहाँपर टैक्स देना है' आदि स्फुरणाएँ होती हैं। ऐसी ही स्फुरणाएँ जड़ताका उद्देश्य रखनेवाले आसुरी-सम्पत्तिवालोंके मनमें भी होती हैं। तो इन दोनोंकी वृत्तियोंमें क्या अन्तर हुआ?

उत्तर—दोनोंकी वृत्तियाँ एक-सी दीखनेपर भी उनमें बहुत अन्तर है। साधकका उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका होता है; अतः वह उन वृत्तियोंमें तल्लीन नहीं होता। परंतु आसुरी-प्रकृतिवालोंका

उद्देश्य धन इकट्ठा करने और भोग भोगनेका रहता है; अतः वे उन वृत्तियोंमें ही तल्लीन होते हैं। तात्पर्य यह कि दोनोंके उद्देश्य भिन्न-भिन्न होनेसे दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है।

श्लोक—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

व्याख्या—

आसुरी-सम्पदावाले व्यक्ति क्रोधके परायण होकर इस प्रकारके मनोरथ करते हैं– **'असौ मया हतः शत्रुः'**—उसको तो मैंने मार दिया है और **'हनिष्ये चापरानपि'** दूसरे जो भी मेरे साथ टेढ़े चलते हैं, उनको भी हम मजा चखा ही देंगे। **'ईश्वरोऽहम्'**—मैं धन, बल, बुद्धि आदिमें सब तरहसे समर्थ हूँ। मेरे पास क्या नहीं है? मेरी बराबरी कोई कर सकता है क्या! **'अहं भोगी'**— मैं भोग भोगनेवाला हूँ। मेरे पास स्त्री, मकान, कार आदि कितनी भोग्य सामग्री है! **'सिद्धोऽहम्'**—मैं सब तरहसे सिद्ध हूँ। मैंने तो पहले ही कह दिया था न? वैसा हो गया कि नहीं? हमारेको तो पहले-से ही ऐसा दीखता है, ये जो लोग भजन-स्मरण, जप, ध्यान आदि करते हैं, ये सभी किसीके बहकावेमें आये हुए हैं। अतः इनकी क्या दशा होगी, उसको हम जानते हैं। मेरे समान सिद्ध और कोई है संसारमें? मेरे पास अणिमा, गरिमा आदि सभी सिद्धियाँ हैं। अतः मैं एक फूँकमें सबको भस्म कर सकता हूँ। **'बलवान्'**—अमुक आदमीने मेरेसे टक्कर लेनी चाही, तो उसका क्या नतीजा हुआ? आदि। परंतु जहाँ स्वयं हार जाते हैं; वह बात दूसरोंको

नहीं कहते, जिससे कि कोई हमें कमजोर न समझ ले। उन्हें अपने हारनेकी बात तो याद भी नहीं रहती, पर अभिमानकी बात उन्हें याद रहती है। 'सुखी'—मेरे पास कितना सुख है, आराम है! अतः मेरे समान सुखी संसारमें कौन है?

ऐसे व्यक्तियोंके भीतर तो जलन होती रहती है, और ऊपरसे इस प्रकारकी डींग हाँकते हैं।

श्लोक—

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

व्याख्या—

आसुर-स्वभाववाले व्यक्ति अभिमानके परायण होकर इस प्रकारके मनोरथ करते हैं—'आढ्योऽभिजनवानस्मि'—कितना धन मेरे पास है, कितने जन (आदमी) मेरे पास हैं, कितने पद और अधिकार मेरे पास हैं। थोड़े रुपये और खर्च होंगे, पर उनसे अमुक-अमुक पद, अधिकार प्राप्त कर लेंगे। फिर तो हम सबसे बड़े धनी और बड़े पद, अधिकारवाले कहलायेंगे। 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'—आप इतने घूमे-फिरे हो, तो आपको कई आदमी मिले होंगे; पर आप बताओ, हमारे समान आपने कोई देखा है क्या 'यक्ष्ये दास्यामि—हम ऐसा यज्ञ करेंगे, ऐसा दान करेंगे कि सबपर टाँग फेर देंगे! थोड़ा-सा यज्ञ करनेसे, थोड़ा-सा दान देनेसे, थोड़े-से ब्राह्मणोंको भोजन कराने आदिसे क्या होता है? हम तो ऐसे यज्ञ, दान आदि करेंगे, जैसे आजतक किसीने न किये हों! क्योंकि मामूली यज्ञ, दान करनेसे लोगोंको क्या पता लगेगा

कि इन्होंने यज्ञ किया, दान दिया। बड़े यज्ञ, दानसे हमारा नाम अखबारोंमें निकलेगा। किसी धर्मशालामें मकान बनवायेंगे, तो उसमें हमारा नाम खुदवाया जायगा, जिससे हमारी यादगिरी रहेगी। 'मोदिष्ये'—हम कितने बड़े आदमी हैं! हमें सब तरहसे सब सामग्री सुलभ है! अतः हम आनन्दसे मौज करेंगे।

इस प्रकार अभिमानको लेकर मनोरथ करनेवाले असुर लोग 'करेंगे, करेंगे'—केवल ऐसा मनोरथ ही करते रहते हैं। पर वास्तवमें करते-कराते कुछ नहीं। और करेंगे भी तो वह भी नाममात्रके लिये करेंगे, जिसका उल्लेख आगे सत्रहवें श्लोकमें आया है। कारण कि 'इत्यज्ञानविमोहिताः'*—वे अज्ञानसे मोहित हैं अर्थात् मूढ़ताके कारण ही उनकी ऐसे मनोरथवाली वृत्ति होती है।

सम्बन्ध—

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे विमुख हुए आसुरी-सम्पदावालोंको जीते-जी अशान्ति, जलन, संताप आदि तो होते ही हैं; परंतु मरनेपर उनकी क्या गति होती है इसे बतानेके लिये अगला श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

---

* इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें आसुरी-सम्पत्तिके अन्तर्गत जिस अज्ञानका वर्णन हुआ है, उसी (आसुरी-सम्पत्ति) का विस्तारसहित वर्णन करके 'इत्यज्ञानविमोहिताः' पदोंसे उसका उपसंहार किया गया है।

व्याख्या—

'अनेकचित्तविभ्रान्ताः'—उन असुर प्राणियोंका एक निश्चय न होनेसे उनके मनमें अनेक तरहकी चाहना होती है, और उस एक-एक चाहनाकी पूर्तिके लिये अनेक तरहके उपाय होते हैं तथा उन उपायोंके विषयमें उनका अनेक तरहका चिन्तन होता है।

'मोहजालसमावृताः'—जड़का उद्देश्य होनेसे वे मोहजालसे ढके रहते हैं। मोहजालका तात्पर्य है कि तेरहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक काम, क्रोध और अभिमानको लेकर जितने मनोरथ बताये गये हैं, उन सबसे वे अच्छी तरहसे आवृत रहते हैं; अतः उनसे कभी छूटते नहीं। जैसे मछली जालमें फँस जाती है, ऐसे ही वे प्राणी मनोरथरूप मोहजालमें फँसे रहते हैं। उनके मनोरथोंमें भी केवल एक तरफ ही वृत्ति नहीं होती, प्रत्युत दूसरी तरफ भी वृत्ति रहती है, जैसे—इतना धन तो मिल जायगा, पर उसमें अमुक-अमुक बाधा लग जायगी तो! हमारे पास दो नम्बरकी इतनी पूँजी है, इसका पता राजकीय अधिकारियोंको लग जायगा तो! हमारे मुनीम, नौकर आदि हमारी शिकायत कर देंगे तो! हम अमुक व्यक्तिको मार देंगे, पर हमारी न चली और दशा विपरीत हो गयी तो! हम अमुकका अहित करेंगे, पर उससे हमारा हित हो गया तो!—इस तरह मोहजालमें फँसे हुए आसुरी-सम्पदावालोंमें काम, क्रोध और अभिमान-के साथ-साथ भय भी बना रहता है। इस वास्ते वे एक निश्चय नहीं कर पाते। कहींपर जाते हैं ठीक करनेके लिये, पर हो जाता है

बेठीक ! मनोरथ सिद्ध न होनेसे उनको जो दुःख होता है, उसको तो वे ही जानते हैं !

'प्रसक्ताः कामभोगेषु'—वस्तु आदिका संग्रह करने और उसका उपभोग करनेमें तथा मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिमें वे अत्यन्त आसक्त रहते हैं।

'पतन्ति नरकेऽशुचौ'—मोहजाल उनके लिये जीते-जी ही नरक है और मरनेके बाद उन्हें कुम्भीपाक, महारौरव आदि स्थान-विशेष नरकोंकी प्राप्ति होती है। उन नरकोंमें भी वे घोर यातनावाले नरकोंमें गिरते हैं, 'नरके अशुचौ' कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन नरकोंमें महान् असह्य यातना और भयंकर दुःख दिया जाता है, ऐसे घोर नरकोंमें वे गिरते हैं; क्योंकि जिनकी जैसी स्थिति होती है, मरनेके बाद भी उनकी वैसी (स्थितिके अनुसार) ही गति होती है। वे लोग कभी कोई शुभ काम भी करते हैं, तो वह केवल लोगोंको दिखानेके लिये और अपनी महिमाके लिये ही करते हैं तथा इस भावसे करते हैं कि जिससे धन अधिक आ जाय, दूसरोंपर असर पड़ जाय और वे मेरे प्रभावसे प्रभावित हो जायँ, उनकी आँख खुल जाय कि मैं क्या हूँ, उन्हें चेत हो जाय आदि। शुभ काम भी वे अविधिपूर्वक ही करते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियोंको अशुद्ध यानी घोर नरक मिलते हैं।

सम्बन्ध—

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे विमुख हुए आसुरी-सम्पदावालोंके दुराचारोंका फल नरक-प्राप्ति बतलाकर, दुराचारोंद्वारा बोये गये

दुर्भावोंसे वर्तमानमें उनकी कितनी भयंकर दुर्दशा होती है और भविष्यमें उसका क्या परिणाम होता है—इसे बतानेके लिये अगला (चार श्लोकोंका) प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

व्याख्या—

'*आत्मसम्भाविताः*'—वे धन, मान, बड़ाई, आदर आदिकी दृष्टिसे अपने मनसे ही अपने-आपको बड़ा मानते हैं, पूज्य समझते हैं कि हमारे समान कोई नहीं है; अतः हमारा पूजन होना चाहिये, हमारा आदर होना चाहिये, हमारी प्रशंसा होनी चाहिये। वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, पद, अधिकार, योग्यता आदिमें हम सब तरहसे श्रेष्ठ हैं; अतः सब लोग हमारे अनुकूल चलें।

'*स्तब्धाः*'—वे किसीके सामने नम्र नहीं होते, नमते नहीं। कोई संत-महात्मा या अवतारी भगवान् ही सामने क्यों न आ जायँ, तो भी वे उनको नमस्कार नहीं करेंगे। वे तो अपने-आपको ही ऊँचा समझते हैं, फिर किसके सामने नम्रता करें और किसको नमस्कार करें! कहीं किसी कारण परवश होकर लोगोंके सामने झुकना भी पड़े, तो अभिमानसहित ही झुकेंगे। इस प्रकार उनमें बहुत ज्यादा ऐंठ-अकड़ रहती है।

'*धनमानमदान्विताः*'—वे धन और मानके मदसे सदा चूर रहते हैं। उनमें धनका, अपने जनोंका, जमीन-जायदाद और

मकान आदिका मद (नशा) होता है। इधर-उधर पहचान हो जाती है, तो उसका भी उनके मनमें मद होता है कि हमारी तो बड़े-बड़े मिनिस्टरोंतक पहचान है। हमारे पास ऐसी शक्ति है, जिससे चाहे जो प्राप्त कर सकते हैं और चाहे जिसका नाश कर सकते हैं। इस प्रकार धन और मान ही उनका सहारा होता है। इनका ही उन्हें नशा होता है—गरमी होती है। अतः वे इनको ही श्रेष्ठ मानते हैं।

'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेन'—वे लोग (पंद्रहवें श्लोकमें आये 'यक्ष्ये दास्यामि' पदोंके अनुसार) दम्भपूर्वक नाममात्रके यज्ञ करते हैं। लोगोंमें हमारा नाम हो जाय, प्रसिद्धि हो जाय, आदर हो जाय—इसके लिये वे यज्ञके नामपर अपने नामका खूब प्रचार करेंगे, अपने नामका छापा (पैम्फ्लेट) छपवायेंगे। ब्राह्मणोंके लिये भोजन करेंगे, तो खीरमें कपूर डाल देंगे, जिससे वे अधिक न खा सकें; क्योंकि उससे खर्चा भी अधिक नहीं होगा और हमारा नाम भी हो जायगा। ऐसे ही पंक्तिमें भोजनके लिये दो-दो, चार-चार, पाँच-पाँच सकोरे और पत्तलें परोस देंगे, जिससे उन सकोरे और पत्तलोंको बाहर फेंकनेपर उनका ढेर लग जाय और लोगोंको यह पता चल जाय कि ये कितने अच्छे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इतने ब्राह्मणों-को भोजन कराया है! इस प्रकार ये आसुरी-सम्पदावालोंके भीतरके भाव होते हैं और भावोंके अनुसार ही उनके आचरण होते हैं।

आसुरी-सम्पत्तिवाले व्यक्ति शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, पूजन आदि कर्म तो करते हैं और उनके लिये पैसे भी खर्च करते हैं,

पर करते हैं शास्त्रविधिकी परवाह न करके और दम्भपूर्वक ही। मन्दिरोंमें, जब कोई मेला-महोत्सव हो और ज्यादा लोगोंके आनेकी उम्मीद हो तथा बड़े-बड़े धनी लोग आनेवाले हों, तब मन्दिर-को अच्छी तरह सजायेंगे, ठाकुरजीको खूब बढ़िया-बढ़िया गहने-कपड़े पहनायेंगे, जिससे ज्यादा लोग आ जायँ और खूब भेंट-चढ़ावा इकट्ठा हो जाय। इस प्रकार ठाकुरजीका तो नाममात्रका पूजन है, पर वास्तवमें पूजन होता है लोगोंका।

ऐसे ही कोई मिनिस्टर या अफसर आनेवाला हो, तो उनको राजी करनेके लिये ठाकुरजीको खूब सजायेंगे और जब वे मन्दिरमें आयेंगे, तब उनका खूब आदर-सत्कार करेंगे, उनको ठाकुरजीकी माला देंगे, प्रसाद (जो उनके लिये विशेषरूपसे तैयार रखा रहता है) देंगे, इसलिये कि वे राजी हो जायँगे तो हमारे व्यापारमें, घरेलू कामोंमें हमारी सहायता करेंगे, मुकदमे आदिमें हमारा पक्ष लेंगे आदि। इन भावोंसे, वे ठाकुरजीका जो पूजन करते हैं, वह तो नाममात्रका पूजन है। वास्तवमें पूजन होता है— अपने व्यापारका, घरेलू कामोंका, लड़ाई-झगड़ोंका; क्योंकि उनका उद्देश्य ही वही है।

गो-सेवी संस्था-संचालक भी गोशालाओंमें प्रायः दूध देनेवाली स्वस्थ गायोंको ही रखेंगे और उनको अधिक चारा देंगे, पर लूली-लँगड़ी, अपाहिज, अन्धी और दूध न देनेवाली गायोंको नहीं रखेंगे, तथा किसीको रखेंगे भी तो उसको दूध देनेवाली गायोंकी अपेक्षा बहुत कम चारा देंगे। परंतु हमारी गोशालामें जितना

मकान आदिका मद (नशा) होता है। इधर-उधर पहचान हो जाती है, तो उसका भी उनके मनमें मद होता है कि हमारी तो बड़े-बड़े मिनिस्टरोंतक पहचान है। हमारे पास ऐसी शक्ति है, जिससे चाहे जो प्राप्त कर सकते हैं और चाहे जिसका नाश कर सकते हैं। इस प्रकार धन और मान ही उनका सहारा होता है। इनका ही उन्हें नशा होता है—गरमी होती है। अतः वे इनको ही श्रेष्ठ मानते हैं।

'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेन'—वे लोग (पंद्रहवें श्लोकमें आये 'यक्ष्ये दास्यामि' पदोंके अनुसार) दम्भपूर्वक नाममात्रके यज्ञ करते हैं। लोगोंमें हमारा नाम हो जाय, प्रसिद्धि हो जाय, आदर हो जाय—इसके लिये वे यज्ञके नामपर अपने नामका खूब प्रचार करेंगे, अपने नामका छापा (पैम्फ्लेट) छपवायेंगे। ब्राह्मणोंके लिये भोजन करेंगे, तो खीरमें कपूर डाल देंगे, जिससे वे अधिक न खा सकें; क्योंकि उससे खर्चा भी अधिक नहीं होगा और हमारा नाम भी हो जायगा। ऐसे ही पंक्तिमें भोजनके लिये दो-दो, चार-चार, पाँच-पाँच सकोरे और पत्तलें परोस देंगे, जिससे उन सकोरे और पत्तलोंको बाहर फेंकनेपर उनका ढेर लग जाय और लोगोंको यह पता चल जाय कि ये कितने अच्छे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इतने ब्राह्मणों-को भोजन कराया है! इस प्रकार ये आसुरी-सम्पदावालोंके भीतरके भाव होते हैं और भावोंके अनुसार ही उनके आचरण होते हैं।

आसुरी-सम्पत्तिवाले व्यक्ति शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, पूजन आदि कर्म तो करते हैं और उनके लिये पैसे भी खर्च करते हैं,

पर करते हैं शास्त्रविधिकी परवा न करके और दम्भपूर्वक ही। मन्दिरोंमें, जब कोई मेला-महोत्सव हो और ज्यादा लोगोंके आनेकी उम्मीद हो तथा बड़े-बड़े धनी लोग आनेवाले हों, तब मन्दिरको अच्छी तरह सजायेंगे, ठाकुरजीको खूब बढ़िया-बढ़िया गहने-कपड़े पहनायेंगे, जिससे ज्यादा लोग आ जायँ और खूब भेंट-चढ़ावा इकट्ठा हो जाय। इस प्रकार ठाकुरजीका तो नाममात्रका पूजन है, पर वास्तवमें पूजन होना है लोगोंका।

ऐसे ही कोई मिनिस्टर या अफसर आनेवाला हो, तो उनको राजी करनेके लिये ठाकुरजीको खूब सजायेंगे और जब वे मन्दिरमें आयेंगे, तब उनका खूब आदर-सत्कार करेंगे, उनको ठाकुरजीकी माला देंगे, प्रसाद (जो उनके लिये विशेषरूपसे तैयार रखा रहता है) देंगे, इसलिये कि वे राजी हो जायँगे तो हमारे व्यापारमें, घरेलू कामोंमें हमारी सहायता करेंगे, मुकदमे आदिमें हमारा पक्ष लेंगे आदि। इन भावोंसे, वे ठाकुरजीका जो पूजन करते हैं, वह तो नाममात्रका पूजन है। वास्तवमें पूजन होना है—अपने व्यापारका, घरेलू कामोंका, लड़ाई-झगड़ोंका; क्योंकि उनका उद्देश्य ही वही है।

गो-सेवी संस्था-संचालक भी गोशालाओंमें प्रायः दूध देनेवाली स्वस्थ गायोंको ही रखेंगे और उनको अधिक चारा देंगे, पर लूली-लँगड़ी, अपाहिज, अन्धी और दूध न देनेवाली गायोंको नहीं रखेंगे, तथा किसीको रखेंगे भी तो उनको दूध देनेवाली गायोंकी अपेक्षा बहुत कम चारा देंगे। परंतु हमारी गोशालामें कित

गो-पालन हो रहा है, इसकी असलियतकी तरफ खयाल न करके केवल लोगोंको दिखानेके लिये उसका झूठा प्रचार करेंगे। छापा, लेख, विज्ञापन, पुस्तिका आदि छपवाकर बाँटेंगे, जिससे पैसा तो अधिक-से-अधिक आये, पर खर्च कम-से-कम हो।

धार्मिक संस्थाओंमें भी जो संचालक कहलाते हैं, वे प्रायः उन धार्मिक संस्थाओंके पैसोंसे अपने घरका काम चलायेंगे। अपनेको नफा किस प्रकार हो, हमारी दूकान किस तरह चले, पैसे कैसे मिलें—इस प्रकार अपने स्वार्थको लेकर केवल दिखावटीपनसे सारा काम करते हैं।

प्रायः साधन-भजन करनेवाले भी दूसरेको आता देखकर आसन लगाकर बैठ जायँगे, भजन-ध्यान करने लग जायँगे, माला घुमाने लग जायँगे। परंतु कोई देखनेवाला न हो तो बात-चीतमें लग जायँगे, तास-चौपड़ खेलेंगे अथवा सो जायँगे। तो इसमें जो साधन-भजन होता है, वह केवल इसलिये कि दूसरे मुझे अच्छा मानें, भक्त मानें और मेरी प्रशंसा करें, आदर-सम्मान करें, मुझे पैसे मिलें, लोगोंमें मेरा नाम हो जाय आदि। इस प्रकार यह साधन-भजन भगवान्‌का तो नाममात्रके लिये होता है, पर वास्तवमें साधन-भजन होता है अपने नामका, अपने शरीरका, पैसोंका। इस प्रकार आसुरी प्रकृतिवालोंके विषयमें कहाँतक कहा जाय?

'अविधिपूर्वकम्'—वे आसुर-प्राणी शास्त्रविधिको तो मानते ही नहीं, सदा शास्त्रनिषिद्ध काम करते हैं। वे यज्ञ, दान आदि काम करेंगे, पर उनको विधिपूर्वक नहीं करेंगे। दान करेंगे तो

सुपात्रको न देकर कुपात्रको देंगे। कुपात्रोंके साथ ही एकता रखेंगे। इस प्रकार उलटे-उलटे काम करेंगे। बुद्धि सर्वथा विपरीत होनेके कारण उनको उलटी बात भी सुलटी ही दीखती है—'सर्वार्थान् विपरीतांश्च' (गीता १८। ३२)।

श्लोक—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

व्याख्या—

'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः'—वे आसुर-प्राणी जो कुछ काम करेंगे, उसको अहंकार, बल अर्थात् हठ, घमण्ड, काम और क्रोधसे ही करेंगे। जैसे भक्त भगवान्‌के आश्रित रहता है, ऐसे ही वे असुर अहंकार, हठ, काम आदिके आश्रित रहते हैं। उनके मनमें यह बात अच्छी तरहसे जँची हुई रहती है कि अहंकार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोध किये बिना काम नहीं चलेगा; संसारमें ऐसा होनेसे ही काम चलता है, नहीं तो मनुष्योंको दुःख ही पाना पड़ता है; जो इनका (अहंकार, हठ आदिका) आश्रय नहीं लेते, वे बुरी तरहसे कुचले जाते हैं; सीधे-सादे व्यक्तिको संसारमें कौन मानेगा? इस वास्ते अहंकारादिके रहनेसे ही अपना मान होगा, सत्कार होगा और लोगोंमें नाम होगा, जिससे लोगोंपर हमारा दबाव, आधिपत्य रहेगा।

'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तः'—भगवान् कहते हैं कि मैं जो उसके शरीरमें और दूसरोंके शरीरमें रहता हूँ, उस मेरे साथ वे आसुर प्राणी वैर रखते हैं। भगवान्‌के साथ वैर रखना क्या है?—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे य उल्लङ्घ्य प्रवर्तते।
आज्ञाभङ्गी मम द्वेषी नरके पतति ध्रुवम्॥

'श्रुति और स्मृति—ये दोनों मेरी आज्ञाएँ हैं। इनका उल्लङ्घन करके जो मनमाने ढंगसे बर्ताव करता है, वह मेरी आज्ञा भङ्ग करके मेरे साथ द्वेष रखनेवाला मनुष्य निश्चित ही नरकोंमें गिरता है।'

वे अपने अन्तःकरणमें विराजमान परमात्माके साथ भी विरोध करते हैं अर्थात् हृदयमें जो अच्छी स्फुरणाएँ होती हैं, सिद्धान्तकी बातें आती हैं, उनकी वे उपेक्षा-तिरस्कार करते हैं, उनको मानते नहीं। दूसरे जो लोग हैं, उनकी वे अवज्ञा करते हैं, तिरस्कार करते हैं, अपमान करते हैं, उनको दुःख देते हैं, उनसे अच्छी तरहसे द्वेष रखते हैं। यह सब उन प्राणियोंके रूपमें भगवान्‌के साथ द्वेष करना है।

'अभ्यसूयकाः'—वे दूसरोंके गुणोंमें दोष-दृष्टि रखते हैं। आजतक जितने संत-महात्मा हुए हैं और अभी भी जो संत-महात्मा तथा अच्छी स्थितिवाले साधक हैं, उनके विषयमें वे असुर लोग कहते हैं कि उनमें भी राग-द्वेष, काम-क्रोध, स्वार्थ, दिखावटीपन आदि दोष पाये जाते हैं; किसी भी संत-महात्माका चरित्र ऐसा नहीं है, जिसमें ये दोष न आये हों; अतः यह सब पाखण्ड है; हमने भी इन सब बातोंको करके देखा है, हमने भी संयम किया है, भजन किया है, व्रत किये हैं, तीर्थ किये हैं, पर वास्तवमें इनमें कोई दम नहीं है, हमें तो कुछ नहीं मिला, मुफ्तमें ही दुःख पाया; उनके करनेमें वह समय हमारा व्यर्थमें ही बरबाद हुआ है; ये लोग भी किसीके बहकावेमें आकर अपना समय बरबाद कर रहे हैं; अभी ये ऐसे प्रवाह

बहे हुए हैं और उल्टे रास्तेमें जा रहे हैं, अभी इनको होश नहीं है, पर जब कभी चेतेंगे, तब उनको भी पता लगेगा; आदि-आदि।

श्लोक—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

व्याख्या—

सातवें अध्यायके पंद्रहवें और नवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें वर्णित आसुरी-सम्पदाका इस अध्यायके सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक विस्तारसे वर्णन किया गया। अब आसुरी-सम्पदाके विषयका इन दो (उन्नीसवें-बीसवें) श्लोकोंमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि ऐसे आसुर-प्राणी बिना ही कारण सबसे वैर रखते हैं और सबका अनिष्ट करनेपर ही तुले रहते हैं। उनके कर्म बड़े क्रूर होते हैं, जिनके द्वारा दूसरोंकी हिंसा आदि हुआ करती है। ऐसे वे क्रूर, निर्दयी, हिंसक प्राणी मनुष्योंमें नराधम अर्थात् महान् नीच हैं—'नराधमान्'—उनको मनुष्योंमें नीच कहनेका मतलब यह है कि नरकोंमें रहनेवाले और पशु-पक्षी आदि (चौरासी लाख योनियाँ) अपने पूर्वकर्मोंका फल भोगकर शुद्ध हो रहे हैं और ये आसुर-प्राणी अन्याय—पाप करके पशु-पक्षी आदिसे भी नीचेकी ओर जा रहे हैं। इस वास्ते इन लोगोंका सङ्ग बहुत बुरा कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥
(मानस ५। ४५। ४)

नरकोंका वास बहुत अच्छा है, पर विधाता (ब्रह्मा) हमें दुष्टका सङ्ग कभी न दे; क्योंकि नरकोंके वाससे तो पाप नष्ट होकर शुद्धि

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे य उल्लङ्घ्य प्रवर्तते।
आज्ञाभङ्गी मम द्वेषी नरके पतति ध्रुवम्॥

'श्रुति और स्मृति—ये दोनों मेरी आज्ञाएँ हैं। इनका उल्लङ्घन करके जो मनमाने ढंगसे बर्ताव करता है, वह मेरी आज्ञा भङ्ग करके मेरे साथ द्वेष रखनेवाला मनुष्य निश्चित ही नरकोंमें गिरता है।'

वे अपने अन्तःकरणमें विराजमान परमात्माके साथ भी विरोध करते हैं अर्थात् हृदयमें जो अच्छी स्फुरणाएँ होती हैं, सिद्धान्तकी अच्छी बातें आती हैं, उनकी वे उपेक्षा-तिरस्कार करते हैं, उनको मानते नहीं। दूसरे जो लोग हैं, उनकी वे अवज्ञा करते हैं, तिरस्कार करते हैं, अपमान करते हैं, उनको दुःख देते हैं, उनसे अच्छी तरहसे द्वेष रखते हैं। यह सब उन प्राणियोंके रूपमें भगवान्‌के साथ द्वेष करना है।

'अभ्यसूयकाः'—वे दूसरोंके गुणोंमें दोष-दृष्टि रखते हैं। आजतक जितने संत-महात्मा हुए हैं और अभी भी जो संत-महात्मा तथा अच्छी स्थितिवाले साधक हैं, उनके विषयमें वे असुर लोग कहते हैं कि उनमें भी राग-द्वेष, काम-क्रोध, स्वार्थ, दिखावटीपन आदि दोष पाये जाते हैं; किसी भी संत-महात्माका चरित्र ऐसा नहीं है, जिसमें ये दोष न आये हों; अतः यह सब पाखण्ड है; हमने भी इन सब बातोंको करके देखा है, हमने भी संयम किया है, भजन किया है, व्रत किये हैं, तीर्थ किये हैं, पर वास्तवमें इनमें कोई दम नहीं है, हमें तो कुछ नहीं मिला, मुफ्तमें ही दुःख पाया; उनके करनेमें वह समय हमारा व्यर्थमें ही बरबाद हुआ है; ये लोग भी किसीके बहकावेमें आकर अपना समय बरबाद कर रहे हैं; अभी ये ऐसे प्रवाहमें

बहे हुए हैं और उल्टे रास्तेमें जा रहे हैं, अभी इनको होश नहीं है, पर जब कभी चेतेंगे, तब उनको भी पता लगेगा; आदि-आदि ।

श्लोक—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

व्याख्या—

सातवें अध्यायके पंद्रहवें और नवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें वर्णित आसुरी-सम्पदाका इस अध्यायके सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक विस्तारसे वर्णन किया गया । अब आसुरी-सम्पदाके विषयका इन दो (उन्नीसवें-बीसवें) श्लोकोंमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि ऐसे आसुर-प्राणी बिना ही कारण सबसे वैर रखते हैं और सबका अनिष्ट करनेपर ही तुले रहते हैं । उनके कर्म बड़े क्रूर होते हैं, जिनके द्वारा दूसरोंकी हिंसा आदि हुआ करती है । ऐसे वे क्रूर, निर्दयी, हिंसक प्राणी मनुष्योंमें नराधम अर्थात् महान् नीच हैं—

'नराधमान्'—उनको मनुष्योंमें नीच कहनेका मतलब यह है कि नरकोंमें रहनेवाले और पशु-पक्षी आदि (चौरासी लाख योनियाँ) अपने पूर्वकर्मोंका फल भोगकर शुद्ध हो रहे हैं और ये आसुर-प्राणी अन्याय—पाप करके पशु-पक्षी आदिसे भी नीचेकी ओर जा रहे हैं । इस वास्ते इन लोगोंका सङ्ग बहुत बुरा कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥
(मानस ५ । ४५ । ४)

नरकोंका वास बहुत अच्छा है, पर विधाता (ब्रह्मा) हमें दुष्टका सङ्ग कभी न दे; क्योंकि नरकोंके वाससे तो पाप नष्ट होकर शुद्धि

आती है, पर दुष्टोंके सङ्गसे अशुद्धि आती है, पाप बनते हैं; पापके ऐसे बीज बोये जाते हैं, जो आगे नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ भोगनेपर भी पूरे नष्ट नहीं होते।

प्रकृतिके अंश शरीरमें राग अधिक होनेसे आसुरी-सम्पत्ति अधिक आती है; क्योंकि भगवान्‌ने कामना (राग) को सम्पूर्ण पापोंमें हेतु बताया है (३ । ३७)। उस कामनाके बढ़ जानेसे आसुरी-सम्पत्ति बढ़ती ही चली जाती है। जैसे धनकी अधिक कामना बढ़नेसे झूठ, कपट, छल आदि दोष विशेषतासे बढ़ जाते हैं और वृत्तियोंमें भी अधिक-से-अधिक धन कैसे मिले—ऐसा लोभ बढ़ जाता है। फिर मनुष्य अनुचित रीतिसे, छिपावसे, चोरीसे धन लेनेकी इच्छा करता है। इससे भी अधिक लोभ बढ़ जाता है, तो फिर मनुष्य डकैती करने लग जाता है और थोड़े धनके लिये मनुष्यकी हत्या कर देनेमें भी नहीं हिचकता। इस प्रकार उसमें क्रूरता बढ़ती रहती है और उसका स्वभाव राक्षसों-जैसा बन जाता है। स्वभाव बिगड़नेपर उसका पतन होता चला जाता है और अन्तमें उसे कीट-पतङ्ग आदि आसुरी योनियों और घोर नरकोंकी महान् यातना भोगनी पड़ती है।

'अशुभान्'—जिनका नाम लेना, दर्शन करना, स्मरण करना आदि भी महान् अपवित्र करनेवाला है, ऐसे क्रूर, निर्दयी, सबके वैरी प्राणियोंके स्वभावके अनुसार ही भगवान् उनको आसुरी योनि देते हैं। भगवान् कहते हैं—**'आसुरीष्वेव योनिषु क्षिपामि'** अर्थात् मैं उनको उनके स्वभावके लायक ही कुत्ता, साँप, बिच्छू, बाघ,

सिंह आदि आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ। वह भी एक-दो बार नहीं, अपितु बार-बार गिराता हूँ—'अजस्रम्', जिससे वे (अपने कर्मोंका फल भोगकर शुद्ध,) निर्मल होते रहें।

भगवान्का उनको आसुरी-योनिमें गिरानेका तात्पर्य क्या है ?

भगवान्का उन क्रूर, निर्दयी प्राणियोंपर भी अपनापन है। भगवान् उनको पराया नहीं समझते, अपना द्वेषी-वैरी नहीं समझते, अपितु अपना ही समझते हैं। जैसे, जो भक्त भगवान्का जैसा भजन करते हैं, भगवान् भी उसका वैसा ही भजन करते हैं,* वैसे ही जो भगवान्के साथ द्वेष करते हैं, उनके साथ भगवान् द्वेष नहीं करते, प्रत्युत उनको अपना ही समझते हैं। दूसरे साधारण मनुष्य जिस मनुष्यसे अपनापन करते हैं, उस मनुष्यको ज्यादा सुख-आराम देकर उसको लौकिक सुखमें फँसा देते हैं; परंतु भगवान् जिनसे अपनापन करते हैं, उनको शुद्ध बनानेके लिये वे प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं, जिससे वे सदाके लिये सुखी हो जायँ—उनका उद्धार हो जाय।

जैसे शुभेच्छु अध्यापक विद्यार्थियोंको पढ़ाते हैं, तो उनका समय बरबाद न हो जाय—इस बातकी पूरी निगरानी रखते हैं और विद्यार्थियोंको अच्छी तरह पढ़ाकर उनकी उन्नति करते हैं। ऐसे ही जो प्राणी परमात्माको जानते नहीं, मानते नहीं और उनका खण्डन करते हैं, उनको भगवान् जानते हैं और अपना मानते हैं। इसलिये परम कृपालु भगवान् उनको आसुरी-योनियोंमें गिराते हैं,

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११)

कर्मोंका फलभोग तो हो जाता है, पर उनके स्वभावका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् उनकी अहंतामें परिवर्तन नहीं होता ।*

इन्हीं बातोंको लेकर भगवान् पश्चात्तापके साथ कहते हैं—'मामप्राप्यैव कौन्तेय' । तात्पर्य यह कि अत्यन्त कृपा करके मैंने जीवोंको मनुष्य-शरीर देकर इन्हें अपना उद्धार करनेका मौका दिया और यह विश्वास किया कि ये अपना उद्धार अवश्य कर लेंगे; परंतु ये नराधम इतने मूढ़ और विश्वासघाती निकले कि जिस शरीरसे मेरी प्राप्ति करनी थी, उससे मेरी प्राप्ति न करके उलटे अधम गतिको चले गये ।

मनुष्य-शरीर प्राप्त हो जानेके बाद वह कैसे ही आचरणवाला क्यों न हो अर्थात् दुराचारी-से-दुराचारी क्यों न हो, वह भी यदि चाहे तो थोड़े-से-थोड़े समयमें (गीता ९ । ३०-३१) और जीवनके अन्तकालमें (गीता ८ । ५) भी भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है । कारण कि **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९ । २९) कहकर भगवान्‌ने अपनी प्राप्ति सबके लिये अर्थात् प्राणिमात्रके लिये खुली रखी है । हाँ, यह बात हो सकती है कि पशु-पक्षी आदिमें उनको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है; परंतु भगवान्‌की तरफसे तो

* स्वर्गच्युतानामिह भूमिलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे ।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी सुरार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च ॥

'स्वर्गसे लौटकर संसारमें आये हुए लोगोंकी देहमें चार लक्षण रहा करते हैं—दान देनेमें प्रवृत्ति, मधुर वाणी, देवपूजन और ब्राह्मणोंको संतुष्ट रखना ।'

किसीके लिये भी मना नहीं है। ऐसा अवसर सर्वथा प्राप्त हो जानेपर भी ये आसुर-मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त न करके अधम गतिमें चले जाते हैं, तो इनकी इस दुर्गतिको देखकर परम दयालु प्रभु दुःखी होते हैं।

'ततो यान्त्यधमां गतिम्'—आसुरी योनियोंमें जानेपर भी उनके सभी पाप पूरे नष्ट नहीं होते। अतः उन बचे हुए पापोंको भोगनेके लिये वे उन आसुरी योनियोंसे भी भयंकर अधम गतिको अर्थात् नरकोंको प्राप्त होते हैं।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ये जीव मनुष्य-शरीरमें मेरी प्राप्तिका अवसर प्राप्त करके भी मुझे प्राप्त नहीं करते, जिससे मुझे उनको अधम योनिमें भेजना पड़ता है। तो उनका अधम योनिमें और अधम गति (नरक) में जानेका मूल कारण क्या है? उसको भगवान् अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

व्याख्या—

'कामः क्रोधस्तथा लोभः त्रिविधं नरकस्येदं द्वारम्'—भगवान्‌ने पाँचवें श्लोकमें कहा था कि दैवी-सम्पत्ति विमोक्षके लिये और आसुरी-सम्पत्ति बन्धनके लिये है। तो वह आसुरी-सम्पत्ति आती कहाँसे है? जहाँ संसारकी कामना होती है अर्थात् संसारके भोग, पदार्थोंका संग्रह, मान, बड़ाई, आराम आदि जो अच्छे दीखते हैं,

में जो महत्त्वबुद्धि या आकर्षण है, बस, वही प्राणीको नरकोंकी तरफ ले जानेवाला है। इस वास्ते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—ये षड्रिपु माने गये हैं। इनमेंसे कहींपर तीनका, कहींपर दोका और कहींपर एकका कथन किया जाता है, पर ये सब मिले-जुले हैं, एक ही धातुके हैं। इन सबमें 'काम' ही मूल है; क्योंकि कामनाके कारण ही आदमी बँधता है।*

तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों करता है? उसके उत्तरमें भगवान्‌ने '**काम एष क्रोध एष**'—ये दो शत्रु बताये। परंतु उन दोनोंमें भी 'एष' शब्द देकर कामनाको ही मुख्य बताया; क्योंकि कामनामें विघ्न पड़नेपर क्रोध आता है। यहाँ काम, क्रोध और लोभ—ये तीन शत्रु बताते हैं। तात्पर्य यह कि भोगोंकी तरफ वृत्तियोंका होना 'काम' है और संग्रहकी तरफ वृत्तियोंका होना 'लोभ' है अर्थात् जहाँ 'काम' शब्द अकेला आता है, वहाँपर उसके अन्तर्गत ही भोग और संग्रहकी इच्छा आती है। परंतु जहाँ 'काम' और 'लोभ'—दोनों स्वतन्त्ररूपसे आते हैं, वहाँ भोगकी इच्छाको लेकर 'काम' और संग्रहकी इच्छाको लेकर 'लोभ' है और इन दोनोंमें

---

* कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(महा० शान्ति० २५१। ७)

'जगत्‌में काम अर्थात् कामना ही एकमात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं। जो कामनाके बन्धनसे सर्वथा छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।'

बाधा पड़नेपर 'क्रोध' आता है। जब काम, क्रोध और लोभ—तीनों अधिक बढ़ जाते हैं, तब 'मोह' होता है।

कामसे क्रोध पैदा होता है और क्रोधसे सम्मोह हो जाता है (गीता २। ६२-६३)। यदि कामनामें बाधा न पड़े, तो लोभ पैदा होता है और लोभसे सम्मोह हो जाता है। वास्तवमें यह 'काम' ही क्रोध और लोभका रूप धारण कर लेता है। सम्मोह हो जानेपर तमोगुण आ जाता है। फिर तो पूरी आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है।

'नाशनमात्मनः'—काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों मनुष्यका पतन करनेवाले हैं। जिनका उद्देश्य भोग भोगना और संग्रह करना होता है, वे लोग (अपनी समझसे) अपनी उन्नति करनेके लिये इन तीनों दोषोंको हितकारी मान लेते हैं। उनका यही भाव रहता है कि हम लोग काम आदिसे सुख पायेंगे, आरामसे रहेंगे, खूब भोग भोगेंगे। यह भाव ही उनका पतन कर देता है।

'तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्'—ये काम, क्रोध आदि नरकोंके दरवाजे हैं। इसलिये मनुष्य इनका त्याग कर दे। इनका त्याग कैसे करे ? तीसरे अध्यायमें भगवान्‌ने बताया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(३। ३४)

अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर राग (काम) और द्वेष (क्रोध) स्थित रहते हैं। साधकको

यह होता है, जो इन दोषोंको अपने साथ रहने ही नहीं देता । ये दोष उसको हर समय खटकते रहते हैं; क्योंकि इनको साथमें रहनेका अवसर देना ही बड़ी भारी गलती है ।

मनुष्य साधनकी ओर तो ध्यान देते हैं, पर साथमें जो काम-क्रोधादि दोष रहते हैं, उनसे हमारा कितना अहित होता है—इस तरफ वे ध्यान कम रखते हैं । इस कमीके कारण ही साधन करते हुए सदाचार भी होते रहते हैं और दुराचार भी होते रहते हैं, सद्गुण भी आते हैं और दुर्गुण भी साथ रहते हैं । जप, ध्यान, कीर्तन, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत आदि करके हम अपनेको शुद्ध बना लें—ऐसा भाव साधकमें विशेष रहता है; परंतु जो हमें अशुद्ध कर रहे हैं, उन दुर्गुण-दुराचारोंको हटानेका खयाल साधकमें कम रहता है । इसलिये—

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया ।
न दद्यादवसरं कामादीनां मनागपि ॥

अर्थात् नींद खुलनेसे लेकर नींद आनेतक और जिस दिन पता लगे, उस दिनसे लेकर मौत आनेतक—सब-का-सब समय परमात्मतत्त्वके (सगुण-निर्गुणके) चिन्तनमें ही लगाये । चिन्तनके अलावा काम आदिको किञ्चिन्मात्र भी अवसर न दे ।

'एतैर्विमुक्तः' का यह मतलब नहीं है कि जब हम दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा छूट जायँगे, तब साधन करेंगे; किंतु साधनको भगवत्प्राप्तिका मुख्य उद्देश्य रखकर इनसे छूटनेका भी लक्ष्य रखना है । कारण कि झूठ, कपट, बेईमानी, काम, क्रोध आदि हमारे

साथमें रहेंगे, तो नयी-नयी अशुद्धि—नये-नये पाप होते रहेंगे, जिससे साधनका साक्षात् लाभ नहीं होगा। यही एक कारण है कि वर्षोंतक साधनमें लगे रहनेपर भी साधक अपनी वास्तविक उन्नति नहीं देखते, उनको अपनेमें विशेष परिवर्तनका अनुभव नहीं होता। इन दोषोंसे रहित होनेपर शुद्धि स्वतः स्वाभाविक आती है। जीवमें अशुद्धि तो संसारकी तरफ लगनेसे ही आयी है, अन्यथा परमात्माका अंश होनेसे वह तो स्वतः ही शुद्ध है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११६। १)

'श्रेयः आचरति' का तात्पर्य यह है कि काम, क्रोध और लोभ—इनमेंसे किसीको भी लेकर आचरण नहीं होना चाहिये अर्थात् असाधन (निषिद्ध आचरण) से रहित शुद्ध साधन होना चाहिये। भीतरमें कभी कोई वृत्ति आ भी जाय, तो उसको आचरणमें न आने दे। अपनी तरफसे तो (काम, क्रोधादिकी) वृत्तियोंको दूर करनेका ही उद्योग करे। अपने उद्योगसे न हटे तो 'हे नाथ! हे नाथ!! हे नाथ!!!' ऐसे भगवान्‌को पुकारे। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥

(विनयपत्रिका १२५। २-३)

सम्बन्ध—

जो अपने कल्याणके लिये शास्त्रविधिके अनुसार चलते हैं उनको तो परमगतिकी प्राप्ति होती है, पर जो ऐसा न करें

ढंगसे करते हैं। मनमाने ढंगसे करनेमें क्या कारण है? कारण कि उनके भीतर जो काम, क्रोध आदि पड़े रहते हैं, उनकी परवा न करके वे बाहरी आचरणोंसे ही अपनेको बड़ा मानते हैं। तात्पर्य यह कि बाहरके आचरणोंको ही वे श्रेष्ठ समझते हैं। दूसरे लोग भी बाहरके आचरणोंको ही विशेषतासे देखते हैं। भीतरके भावोंको, सिद्धान्तोंको जाननेवाले लोग बहुत कम होते हैं। परंतु वास्तवमें भीतरके भावोंका ही विशेष महत्त्व है।

अगर भीतरमें दुर्गुण-दुर्भाव रहेंगे और बाहरसे बड़े भारी त्यागी-तपस्वी हो जायँगे, तो अभिमानमें आकर दूसरोंकी ताड़ना कर देंगे। इस प्रकार भीतरमें बढ़े हुए देहाभिमानके कारण उनके गुण भी दोषमें परिणत हो जाते हैं, उनकी महिमा निन्दामें परिणत हो जाती है, उनका त्याग रागमें, आसक्तिमें, भोगोंमें परिणत हो जाता है और आगे चलकर वे प्रसिद्धि प्राप्त करके पतनमें चले जाते हैं। इसलिये भीतरमें दोषोंके रहनेसे ही वे शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करते हैं।

जैसे रोगी अपनी दृष्टिसे तो कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन करता है, पर पूरा ज्ञान न होनेसे वह आसक्तिवश कुपथ्य ले लेता है, जिससे उसका स्वास्थ्य और अधिक खराब हो जाता है।

(१६ । १२), ५—'कामभोगार्थम्' (१६ । १२), ६—'कामभोगेषु' (१६ । १६), ७—'कामम्' (१६ । १८), ८—'कामः' (१६ । २१) और ९—'कामकारतः' (१६ । २३)। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आसुरी-सम्पत्तिका खास कारण 'काम' अर्थात् कामना ही है।

ऐसे ही वे लोग अपनी दृष्टिसे अच्छे-अच्छे काम करते हैं, पर भीतरमें काम, क्रोध और लोभका आवेश रहनेसे उनकी बुद्धि राजसी या तामसी हो जाती है, जिससे वे कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक तरहसे निश्चय नहीं कर सकते।

'न स सिद्धिमवाप्नोति'—आसुरी-सम्पदावाले जो लोग शास्त्र-विधिका त्याग करके यज्ञादि शुभ कर्म करते हैं, उनको धन, मान, आदर आदिके रूपमें कुछ प्रसिद्धिरूप सिद्धि मिल सकती है, पर वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धिरूप जो सिद्धि है, वह उनको नहीं मिलती।

'न सुखम्'—उनको सुख भी नहीं मिलता; क्योंकि उनके भीतरमें काम-क्रोधादिकी जलन बनी रहती है। पदार्थोंके संयोगसे होनेवाला सुख उन्हें मिल जायगा, पर वह सुख दुःखोंका कारण ही है अर्थात् उससे दुःख-ही-दुःख पैदा होते हैं—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'** (गीता ५। २२)। तात्पर्य यह कि पारमार्थिक मार्गमें मिलनेवाला सात्त्विक सुख उनको नहीं मिलता।

'न परां गतिम्'— उनको परमगति भी नहीं मिलती। परमगति मिले ही कैसे! पहले तो वे परमगतिको मानते ही नहीं और यदि मानते भी हैं, तो भी उनको मिल नहीं सकती; क्योंकि काम, क्रोध और लोभके कारण उनके कर्म ही ऐसे होते हैं।

सिद्धि, सुख और परमगतिके न मिलनेका तात्पर्य यह है कि वे आचरण तो श्रेष्ठ करते हैं, जिनसे उन्हें सिद्धि, सुख और परमगतिकी प्राप्ति हो सके; परंतु भीतरमें काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि

रहनेसे उनके अच्छे आचरण भी बुराईमें ही चले जाते हैं। इससे उनको उपर्युक्त चीजें नहीं मिलतीं। यदि ऐसा मान लिया जाय कि उनके आचरण ही बुरे होते हैं, तो भगवान्‌का **'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'**—ऐसा कहना बनेगा ही नहीं; क्योंकि प्राप्ति होनेपर ही निषेध होता है—**'प्राप्तौ सत्यां निषेधः'**।

सम्बन्ध—

शास्त्रविधिका त्याग करनेसे मनुष्यको सिद्धि आदिकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये—इसे बतानेके लिये अगला श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

व्याख्या—

'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'—जिन मनुष्योंको अपने प्राणोंसे मोह होता है, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यको न जाननेसे विशेषरूपसे आसुरी-सम्पत्तिमें प्रवृत्त होते हैं। इस वास्ते मनुष्यके लिये यह उचित है कि वह कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये शास्त्रको सामने रखें।

जिनकी महिमा शास्त्रोंने गायी है और जिनका बर्ताव शास्त्रीय सिद्धान्तके अनुसार होता है, ऐसे सन्त-महापुरुषोंके आचरणों और वचनोंके अनुसार चलना भी शास्त्रके अनुसार ही चलना है। कारण कि उन महापुरुषोंने शास्त्रको आदर दिया है, और शास्त्रोंके अनुसार

चलनेसे ही वे श्रेष्ठ पुरुष बने हैं। वास्तवमें देखा जाय, तो जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए हैं, उनके आचरणों, आदर्शों, भावों आदिसे ही शास्त्र बनते हैं। 'शास्त्रं प्रमाणं' का तात्पर्य यह कि लोक-परलोकका आश्रय लेकर चलनेवाले मनुष्योंके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है।

'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि'—प्राणपोषण-परायण मनुष्य शास्त्रविधिको (कि किसमें प्रवृत्त होना है और किससे निवृत्त होना है) नहीं जानते (१६ । ७), इसलिये उनको सिद्धि आदिकी प्राप्ति नहीं होती। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू तो दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त है; अतः तू शास्त्रविधिको जानकर कर्तव्यका पालन करने योग्य है।

अर्जुन पहले अपनी धारणासे कहते थे युद्ध करनेसे मुझे पाप लगेगा, जब कि भाग्यशाली श्रेष्ठ क्षत्रियोंके लिये अपने-आप प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्गको देनेवाला है (गीता २ । ३२)। भगवान् कहते हैं कि भैया ! तू पाप-पुण्यका निर्णय अपने मनमाने ढंगसे कर रहा है, पर तुझे इस विषयमें शास्त्रको प्रमाण रखना चाहिये। शास्त्रकी आज्ञा समझकर ही तुझे कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि युद्धरूप क्रिया खराब नहीं है, प्रत्युत स्वार्थ और अभिमान रखकर की हुई शास्त्रीय क्रिया (यज्ञ, दान आदि) ही बाँधनेवाली होती है, और मनमाने ढंगसे (शास्त्रविपरीत) की हुई क्रिया तो पतन करनेवाली होती है। अतः स्वतः प्राप्त युद्धरूप क्रिया क्रूर और हिंसारूप दीखती हुई भी पापजनक नहीं होती—

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।

(गीता १८ । ४७)

तात्पर्य यह कि स्वभावनियत काम करता हुआ सर्वथा स्वार्थरहित मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनके स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने जो आज्ञा दी है, उसके अनुसार काम करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता । इससे सिद्ध होता है कि क्रियाओंसे पाप होता है, पर पाप लगता नहीं । पाप लगता है—स्वार्थसे, अभिमानसे और दूसरोंका अनिष्ट सोचनेसे ।

मनुष्य-जन्मकी सार्थकता यही है कि वह शरीर-प्राणोंके मोहमें न फँसकर केवल परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे शास्त्रविहित कर्मोंको करे ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और भाव ही प्रकट किया गया है ।

'ॐ तत्सदिति'—ॐ, तत् और सत्—यह तीन प्रकारका परमात्माका नाम है* । यह मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाला है । इसका उच्चारण परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़ता है और शास्त्रविहित जो कर्म किये गये हैं, उनके अङ्ग-वैगुण्यको मिटाता है । इसलिये गीताके अध्यायका पाठ करनेमें श्लोक, पाद और अक्षरोंके उच्चारणमें

* इसकी व्याख्या सत्रहवें अध्यायमें तेईसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकतक की गयी है ।

तथा उनका अर्थ समझने आदिमें जो-जो भूलें हुई हैं, उनका मार्जन करनेके लिये और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक भगवत्सम्बन्धकी याद आनेके लिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'ॐ तत्सत्'का उच्चारण किया गया है।

स्वयं श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। इसमें उपनिषदोंका सार-तत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद्-स्वरूप है, इसलिये उसको 'उपनिषद्' कहा गया है। सगुण-निर्गुण परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है और सगुण-निर्गुण परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाली होनेसे इसका नाम 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तप्रवर अर्जुनका संवाद है। अर्जुनने निःसंकोचभावसे बातें पूछी हैं और भगवान्‌ने उदारतापूर्वक उनका उत्तर दिया है। उन दोनोंके ही भाव इसमें हैं। इसलिये इन दोनोंके नामसे इस गीताशास्त्रकी विशेष महिमा होनेसे इसे 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' नामसे कहा गया है।

इस (सोलहवें) अध्यायका नाम 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' है; क्योंकि इस अध्यायमें जो दोनों सम्पत्तियोंका वर्णन हुआ है, वह परस्पर एक-दूसरेसे बिल्कुल विरुद्ध है अर्थात् दैवी-सम्पत्ति कल्याण करनेवाली है और आसुरी-सम्पत्ति बाँधनेवाली तथा नीच योनियों और नरकोंमें ले जानेवाली है। जो साधक इन दोनों विभागोंको ठीक रीतिसे जान लेगा, वह आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा त्याग

देगा। आसुरी-सम्पत्तिका सर्वथा त्याग होते ही दैवी-सम्पत्ति स्वतः प्रकट हो जायगी। दैवी-सम्पत्ति प्रकट होते ही एकमात्र परमात्मासे सम्बन्ध रह जायगा।

सोलहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ षोडशोऽध्यायः' के तीन, उवाचके दो, श्लोकोंके दो सौ सत्तासी और पुष्पिकाके तेरह हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ पाँच है।

(२) 'अथ षोडशोऽध्यायः' में सात, उवाचमें सात, …ोंमें सात सौ अड़सठ और पुष्पिकामें बावन अक्षर हैं। इस सम्पूर्ण अक्षरोंका योग आठ सौ चौंतीस है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें केवल एक उवाच है—'श्रीभगवानुवाच'।

सोलहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके चौबीस श्लोकोंमेंसे—छठे श्लोकके प्रथम चरणमें, दसवें श्लोकके तृतीय चरणमें और बाईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'म-विपुला' तथा ग्यारहवें, तेरहवें और उन्नीसवें श्लोकोंके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष अठारह श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

उत्तरार्द्ध








प्रेतान्
तामसाः
देवान्
यक्षरक्षांसि
सात्विकाः
राजसाः

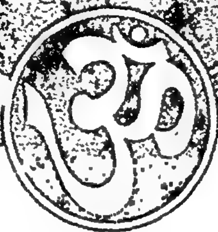
सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥



श्रीमद्भगवद्
ीता की श्रद्धा
प्रेतान्
तामसाः
देवान्
यक्षरक्षांसि
सात्विकाः
राजसाः

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते । मनुष्य
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥ लिखा है-
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । आज वै
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥ न ही जायगा
श्रद्धाको पा
ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु

॥ श्रीहरिः ॥

अनुक्रमणिका

(सत्रहवाँ अध्याय)

॥ श्रीहरिः ॥

गीताकी श्रद्धा

प्राक्कथन

मनुष्यकी सांसारिक प्रवृत्ति संसारके पदार्थोंको सच्चा मानने, देखने, सुनने और भोगनेसे होती है तथा पारमार्थिक प्रवृत्ति परमात्मामें श्रद्धा करनेसे होती है। जिसे हम अपने अनुभवसे नहीं जानते, पर पूर्वके स्वाभाविक संस्कारोंसे, शास्त्रोंसे, संत-महात्माओंसे सुनकर पूज्यभावसहित विश्वास कर लेते हैं, उसका नाम है—श्रद्धा। श्रद्धाको लेकर ही आध्यात्मिक मार्गमें प्रवेश होता है, फिर चाहे वह मार्ग कर्मयोगका हो, चाहे ज्ञानयोगका हो और चाहे भक्तियोगका हो। साध्य और साधन—दोनोंपर श्रद्धा हुए बिना आध्यात्मिक मार्गमें प्रगति नहीं होती।

मनुष्य-जीवनमें श्रद्धाकी बड़ी मुख्यता है। मनुष्य जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप, उसकी निष्ठा है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (गीता १७। ३)। वह आज वैसा न दीखे तो भी क्या ! पर समय पाकर वह वैसा बन ही जायगा।

आजकल साधकके लिये अपनी स्वाभाविक श्रद्धाको पहचानना बड़ा मुश्किल हो गया है। कारण कि अनेक मत-मतान्तर हो गये हैं। कोई ज्ञानकी प्रधानता कहता है, कोई भक्तिकी प्रधानता कहता

है, कोई योगकी प्रधानता कहता है आदि-आदि। ऐसे तरह-तरहके सिद्धान्त पढ़ने और सुननेसे मनुष्यपर उनका असर पड़ता है, जिससे वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि मैं क्या करूँ? मेरा वास्तविक ध्येय, लक्ष्य क्या है? मेरेको किधर चलना चाहिये? ऐसी दशामें उसे गहरी रीतिसे अपने भीतरके भावोंपर विचार करना चाहिये कि सङ्गसे बनी हुई रुचि, शास्त्रसे बनी हुई रुचि, किसीके सिखानेसे बनी हुई रुचि, गुरुके बतानेसे बनी हुई रुचि—ऐसी जो अनेक रुचियाँ हैं, उन सबके मूलमें स्वतः उद्‌बुद्ध होनेवाली अपनी स्वाभाविक रुचि क्या है?

मूलमें सबकी स्वाभाविक रुचि यह होती है कि मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाऊँ और मुझे सदाके लिये महान् सुख मिल जाय। ऐसी रुचि हरेक प्राणीके भीतर रहती है। मनुष्यमें तो यह रुचि कुछ जाग्रत् रहती है। उसमें पिछले जन्मोंके जैसे संस्कार हैं और इस जन्ममें वे जैसे माता-पितासे पैदा हुए, जैसे वायुमण्डलमें रहे, जैसी उनको शिक्षा मिली, जैसे उनके सामने दृश्य आये और वे जो ईश्वरकी बातें, परलोक तथा पुनर्जन्मकी बातें, मुक्ति और बन्धनकी बातें, सत्सङ्ग और कुसङ्गकी बातें सुनते रहते हैं, उन सबका उनपर अदृश्यरूपसे असर पड़ता है। उस असरसे उनकी एक धारणा बनती है। उनकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी—जैसी प्रकृति होती है, उसीके अनुसार वे उस धारणाको पकड़ते हैं और उस धारणाके अनुसार ही उनकी रुचि—श्रद्धा बनती है। इसमें सात्त्विकी श्रद्धा परमात्माकी तरफ लगानेवाली होती है और राजसी-तामसी श्रद्धा संसारकी तरफ।

गीतामें जहाँ-जहाँ सात्त्विकताका वर्णन हुआ है, वह परमात्मा-की तरफ ही लगानेवाली है। इस वास्ते सात्त्विकी श्रद्धा पारमार्थिक हुई और राजसी-तामसी श्रद्धा सांसारिक हुई अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा दैवी-सम्पत्ति हुई और राजसी-तामसी श्रद्धा आसुरी-सम्पत्ति हुई। दैवी-सम्पत्तिको प्रकट करने और आसुरी-सम्पत्तिका त्याग करनेके उद्देश्यसे सत्रहवाँ अध्याय चलता है। कारण कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यके लिये सात्त्विकी श्रद्धा (दैवी-सम्पत्ति) ग्राह्य है और राजसी-तामसी श्रद्धा (आसुरी-सम्पत्ति) त्याज्य है।

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है, जो मनुष्य इस जन्ममें तथा मरनेके बाद भी सुख-सम्पत्ति (स्वर्गादि) को चाहता है, उसकी श्रद्धा राजसी होती है और जो मनुष्य पशुओंकी तरह (मूढतापूर्वक) केवल खाने-पीने, भोग भोगने तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, खेल-कूद, तमाशे आदिमें लगा रहता है, उसकी श्रद्धा तामसी होती है। सात्त्विकी श्रद्धाके लिये सबसे पहली बात है कि 'परमात्मा है'। शास्त्रोंसे, संत-महात्माओंसे, गुरुजनोंसे सुनकर पूज्यभावके सहित ऐसा विश्वास हो जाय कि 'परमात्मा है और उसको प्राप्त करना है'—इसका नाम श्रद्धा है। ठीक श्रद्धा जहाँ होती है, वहाँ प्रेम स्वतः हो जाता है। कारण कि जिस परमात्मामें श्रद्धा होती है, उसी परमात्माका अंश यह जीवात्मा है। अतः श्रद्धा होते ही यह परमात्माकी तरफ खिंचता है। अभी यह परमात्मासे विमुख होकर जो संसारमें लगा हुआ है, वह भी संसारमें श्रद्धा-विश्वास होनेसे ही है। पर यह वास्तविक श्रद्धा नहीं है,

प्रत्युत श्रद्धाका दुरुपयोग है। जैसे, संसारमें यह रुपयोंपर विशेष श्रद्धा करता है कि इनसे सब कुछ मिल जाता है। यह श्रद्धा कैसे हुई? कारण कि बचपनमें खाने और खेलनेके पदार्थ पैसोंसे मिलते थे। ऐसा देखते-देखते पैसोंको ही मुख्य मान लिया और उसीमें श्रद्धा कर ली, जिससे यह बहुत ही पतनकी तरफ चला गया। यह सांसारिक श्रद्धा हुई। इससे ऊँची धार्मिक श्रद्धा होती है कि मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ। परंतु सबसे ऊँची श्रद्धा पारमार्थिक (परमात्माको लेकर) है। यही वास्तविक श्रद्धा है और इसीसे कल्याण होता है। शास्त्रोंमें, सन्त-महात्माओंमें, तत्त्वज्ञ-जीवन्मुक्तोंमें जो श्रद्धा होती है, वह भी पारमार्थिक श्रद्धा ही है।*

जिनको शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है और सन्त-महात्माओंका सङ्ग भी नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी भी पूर्व-संस्कारके कारण पारमार्थिक श्रद्धा हो सकती है। इसकी पहचान क्या है? पहचान यह है कि ऐसे मनुष्योंके भीतर स्वाभाविक यह भाव होता है कि ऐसी कोई महान् चीज (परमात्मा) है, जो दीखती तो नहीं, पर है अवश्य। ऐसे मनुष्योंको स्वाभाविक ही पारमार्थिक बातें बहुत प्रिय लगती हैं और वे स्वाभाविक ही यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, सत्सङ्ग स्वाध्याय आदि शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। यदि वे ऐसे कर्म न भी करें, तो भी सात्त्विक आहारमें स्वाभाविक रुचि होनेसे उनकी श्रद्धाकी पहचान हो जाती है।

---

* सांसारिक श्रद्धामें 'भोग'की, धार्मिक श्रद्धामें 'भाव'की और पारमार्थिक श्रद्धामें 'तत्त्व'की प्रधानता है।

❁

मनुष्य, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष आदि जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, वे किसी-न-किसीको (किसी-न-किसी अंश) अपनेसे बड़ा अवश्य मानते हैं और बड़ा मानकर उसका सहारा लेते हैं। मनुष्य-पर जब आफत आती है, तब वह किसीको अपनेसे बड़ा मानकर उसका सहारा लेता है। पशु-पक्षी भी अपनी रक्षा चाहते हैं और भयभीत होनेपर किसीका सहारा लेते हैं। लता भी किसीका सहारा लेकर ऊँची चढ़ती है। तो जिसने किसीको बड़ा मानकर उसका सहारा लिया, उसने वास्तवमें 'ईश्वरवाद' के सिद्धान्तको स्वीकार कर ही लिया, चाहे वह ईश्वरको माने या न माने। इसलिये आयु, विद्या, गुण, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य, पद, अधिकार, ऐश्वर्य आदिमेंसे एक-एकसे बड़ा देखें, तो बड़प्पन देखते-देखते अन्तमें बड़प्पनकी जहाँ समाप्ति हो, वही ईश्वर है; क्योंकि बड़े-से-बड़ा ईश्वर है, जिससे बड़ा कोई है ही नहीं---

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योगदर्शन १ । २६)

'वह परमात्मा सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है अर्थात् वह कालकी सीमासे बाहर है।'

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी दृष्टिसे किसी-न-किसीको बड़ा मानता है। बड़प्पनकी यह मान्यता अपने-अपने अन्तःकरणके भावोंके अनुसार अलग-अलग होती है। इस कारण उनकी श्रद्धा भी अलग-अलग होती है।

श्रद्धा अन्तःकरणके अनुरूप ही होती है। धारणा, मान्यता, भावना आदि सभी अन्तःकरणमें रहते हैं। इस वास्ते अन्तःकरणमें सात्त्विक, राजस या तामस जिस गुणकी प्रधानता रहती है, उसी गुणके अनुसार धारणा, मान्यता आदि बनती है और उस धारणा,

मान्यता आदिके अनुसार ही तीन प्रकारकी (सात्त्विकी, राजसी या तामसी) श्रद्धा बनती है।

सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुण सभी प्राणियोंमें रहते हैं (गीता १८ । ४०)। उन प्राणियोंमें किसीमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, किसीमें रजोगुणकी प्रधानता होती है और किसीमें तमोगुणकी प्रधानता होती है। इस वास्ते यह नियम नहीं है कि सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें रजोगुण और तमोगुण न आयें, रजोगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें सत्त्वगुण और तमोगुण न आयें तथा तमोगुणकी प्रधानतावाले मनुष्यमें सत्त्वगुण और रजोगुण न आयें (गीता १४ । १०)। कारण कि प्रकृति परिवर्तनशील है—'प्रकर्षेण करणं प्रकृतिः' इस वास्ते प्रकृतिजन्य गुणोंमें भी परिवर्तन होता रहता है। अतः एकमात्र परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यवाले साधकको चाहिये कि वह उन आने-जानेवाले गुणोंसे अपना सम्बन्ध मानकर उनसे विचलित न हो।

जीवमात्र परमात्माका अंश है। इस वास्ते किसी मनुष्यमें रजोगुण-तमोगुणकी प्रधानता देखकर उसे नीचा नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि कौन-सा मनुष्य किस समय समुन्नत हो जाय—इसका कोई ठिकाना नहीं है। कारण कि परमात्माका अंश स्वरूप (आत्मा) तो सबका शुद्ध ही है, केवल सङ्ग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिको लेकर अन्तःकरणमें किसी एक गुणकी प्रधानता हो जाती है अर्थात् जैसा सङ्ग, शास्त्र आदि मिलता है, वैसा ही मनुष्यका अन्तःकरण बन जाता है* और उस अन्तःकरणके

---

* आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥
(श्रीमद्भा० ११ । १३ । ४)

अनुसार ही उसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा बन जाती है। इस वास्ते मनुष्यको सदा-सर्वदा सात्त्विक सङ्ग, शास्त्र, विचार, वायुमण्डल आदिका ही सेवन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उसका अन्तःकरण तथा उसके अनुसार उसकी श्रद्धा भी सात्त्विक बन जायगी, जो उसका उद्धार करनेवाली होगी। इसके विपरीत मनुष्यको राजसी-तामसी सङ्ग, शास्त्र आदिका सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे उसकी श्रद्धा भी राजसी-तामसी बन जायगी, जो उसका पतन करनेवाली होगी।

सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों श्रद्धाओंका तथा इनसे युक्त मनुष्योंकी श्रद्धाको पहचाननेका वर्णन इस सत्रहवें अध्यायमें हुआ है। इस वास्ते इसका नाम 'श्रद्धात्रय विभागयोग' है।



सत्रहवें अध्यायके प्रधान तथा संक्षिप्त विषय

प्रधान विषय

इस सत्रहवें अध्यायमें कुल अट्ठाईस श्लोक हैं और उनके चार प्रकरण हैं। पहलेसे छठे श्लोकतकके पहले प्रकरणमें तीन प्रकारकी श्रद्धाका और आसुर-निश्चयवालोंका वर्णन है। सातवेंसे दसवें श्लोकतकके दूसरे प्रकरणमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस आहारीकी रुचिका वर्णन है। ग्यारहवेंसे बाईसवें श्लोकतकके तीसरे प्रकरणमें क्रमशः यज्ञ, तप और दानके तीन-तीन भेदोंका वर्णन है

'शास्त्र, जल, जनता, देश, काल, कर्म, योनि, चिन्तन, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसी हों तो रजोगुणकी और तामसी हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं।'

तेईसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतकके चौथे प्रकरणमें 'ॐ तत्सत्'के प्रयोगकी व्याख्या और असत-कर्मका वर्णन है।

संक्षिप्त विषय

पहले श्लोकमें शास्त्रविधिको न जाननेवाले श्रद्धायुक्त पुरुषोंकी निष्ठा–(श्रद्धा-) विषयक अर्जुनका प्रश्न है। दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें तीन प्रकारकी श्रद्धा और चौथे श्लोकमें पूज्यके अनुसार पूजककी श्रद्धाकी पहचान बतायी गयी है। पाँचवें-छठे श्लोकोंमें शास्त्रविधिका विरोधपूर्वक त्याग करके घोर तप करनेवालोंके आसुर-निश्चयका वर्णन है।

सातवें श्लोकमें आहार और यज्ञ, तप तथा दानके भेद सुननेके लिये आज्ञा है। आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस आहारकी रुचिसे आहारीकी श्रद्धाकी पहचान बतायी गयी है।

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञका वर्णन है। चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें क्रमशः शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका और सत्रहवें, अठारहवें और उन्नीसवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस तपका वर्णन हुआ है। बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस दानका वर्णन है।

तेईसवें श्लोकमें 'ॐ तत्सत्'की महिमा बतायी गयी है। चौबीसवें श्लोकमें 'ॐ'के प्रयोगकी, पचीसवें श्लोकमें 'तत्'के प्रयोगकी और छब्बीसवें-सत्ताईसवें श्लोकोंमें 'सत्'के प्रयोगकी व्याख्या की गयी है। अट्ठाईसवें श्लोकमें अश्रद्धासे किये हुए कर्मोंको 'असत्' बताया गया है।



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताकी श्रद्धा

[उत्तरार्द्ध]

अथ सप्तदशोऽध्यायः

सम्बन्ध—

*सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करनेवाले पुरुषोंको सिद्धि, सुख और परमगति न मिलनेकी बात कही। यह सुननेपर अर्जुनके मनमें आया कि शास्त्रविधिको ठीक-ठीक जाननेवाले लोग तो बहुत कम हैं। ज्यादा मात्रामें ऐसे ही लोग हैं, जो शास्त्रविधिको तो जानते नहीं, पर अपनी कुल-परम्परा, वर्ण, आश्रम संस्कार आदिके अनुसार देवता आदिका श्रद्धापूर्वक यजन (पूजन) करते हैं। शास्त्रविधिका त्याग होनेसे ऐसे पुरुषोंकी नीची (आसुरी) स्थिति होनी चाहिये और श्रद्धा होनेसे ऊँची (दैवी) स्थिति होनी चाहिये। इसलिये वास्तवमें उनकी क्या स्थिति है—यह जाननेके लिये अर्जुन पहले श्लोकमें प्रश्न करते हैं।**

* इस (सत्रहवें) अध्यायको नवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोक (यत्करोषि यदश्नासि······ तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥) की व्याख्या मानना विचारसे युक्तिसंगत नहीं बैठता। कारण कि नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक 'भगवदर्पण-विषयक' प्रकरणमें आया है, जो चौबीसवें श्लोकसे आरम्भ हुआ है और अट्ठाईसवें श्लोकमें (भगवदर्पणका फल बतलाकर) समाप्त हुआ है। परन्तु यहाँ मनुष्योंकी श्रद्धाको पहचाननेका प्रसङ्ग है, क्योंकि इस (सत्रहवें) अध्यायके आरम्भमें अर्जुनका प्रश्न मनुष्योंकी निष्ठा—श्रद्धाको लेकर ही है। अतः भगवान् उसका उत्तर भी श्रद्धाको लेकर ही देते हैं।

तेईसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतकके चौथे प्रकरणमें 'ॐ तत्सत्'के प्रयोगकी व्याख्या और असत-कर्मका वर्णन है।

संक्षिप्त विषय

पहले श्लोकमें शास्त्रविधिको न जाननेवाले श्रद्धायुक्त पुरुषोंकी निष्ठा-(श्रद्धा-) विषयक अर्जुनका प्रश्न है। दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें तीन प्रकारकी श्रद्धा और चौथे श्लोकमें पूज्यके अनुसार पूजककी श्रद्धाकी पहचान बतायी गयी है। पाँचवें-छठे श्लोकोंमें शास्त्रविधिका विरोधपूर्वक त्याग करके घोर तप करनेवालोंके आसुर-निश्चयका वर्णन है।

सातवें श्लोकमें आहार और यज्ञ, तप तथा दानके भेद सुननेके लिये आज्ञा है। आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस आहारकी रुचिसे आहारीकी श्रद्धाकी पहचान बतायी गयी है।

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञका वर्णन है। चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें क्रमशः शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका और सत्रहवें, अठारहवें और उन्नीसवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस तपका वर्णन हुआ है। बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस दानका वर्णन है।

तेईसवें श्लोकमें 'ॐतत्सत्'की महिमा बतायी गयी है चौबीसवें श्लोकमें 'ॐ'के प्रयोगकी, पचीसवें श्लोकमें 'तत्'के प्रयोगकी और छब्बीसवें-सत्ताईसवें श्लोकोंमें 'सत्'के प्रयोगकी व्याख्या की गयी है। अट्ठाईसवें श्लोकमें अश्रद्धासे किये हुए कर्मोंको 'असत' बताया गया है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताकी श्रद्धा

[उत्तरार्द्ध]

अथ सप्तदशोऽध्यायः

सम्बन्ध—

*सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करनेवाले पुरुषोंको सिद्धि, सुख और परमगति न मिलनेकी बात कही। यह सुनकर अर्जुनके मनमें आया कि शास्त्रविधिको ठीक-ठीक जाननेवाले लोग तो बहुत कम हैं। ज्यादा मात्रामें ऐसे ही लोग हैं, जो शास्त्रविधिको तो जानते नहीं, पर अपनी कुल-परम्परा, वर्ण, आश्रम संस्कार आदिके अनुसार देवता आदिका श्रद्धापूर्वक यजन (पूजन) करते हैं। शास्त्रविधिका त्याग होनेसे ऐसे पुरुषोंकी नीची (आसुरी) स्थिति होनी चाहिये और श्रद्धा होनेसे ऊँची (दैवी) स्थिति होनी चाहिये। इसलिये वास्तवमें उनकी क्या स्थिति है—यह जाननेके लिये अर्जुन पहले श्लोकमें प्रश्न करते हैं।**

* इस (सत्रहवें) अध्यायको नवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोक (यत्करोषि यदश्नासि······ तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥) की व्याख्या मानना विचारसे युक्तिसंगत नहीं बैठता। कारण कि नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक 'भगवदर्पण-विषयक' प्रकरणमें आया है, जो चौबीसवें श्लोकसे आरम्भ हुआ है और अट्ठाईसवें श्लोकमें (भगवदर्पणका फल बतलाकर) समाप्त हुआ है। परन्तु यहाँ मनुष्योंकी श्रद्धाको पहचाननेका प्रसङ्ग है, क्योंकि इस (सत्रहवें) अध्यायके आरम्भमें अर्जुनका प्रश्न मनुष्योंकी निष्ठा—श्रद्धाको लेकर ही है। अतः भगवान् उसका उत्तर भी श्रद्धाको लेकर ही देते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥*

व्याख्या—

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिये है । उन दोनोंके सामने कलियुगकी जनता थी, क्योंकि द्वापर युग समाप्त हो रहा था । आगे आनेवाले कलियुगी जीवोंकी तरफ दृष्टि रहनेसे अर्जुन कहते हैं कि महाराज ! जिन पुरुषोंका भाव बड़ा अच्छा है, श्रद्धा-भक्ति भी है, पर शास्त्रविधिको जानते नहीं ।† यदि जान जायँ तो पालन करने लग जायँ, पर उनको पता नहीं । अतः उनकी क्या स्थिति होती है ?

---

* यह सत्रहवाँ अध्याय सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकपर चला है । उसीको लेकर अर्जुन यहाँ आये 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' (जो शास्त्रविधिका त्याग करके) की जगह यहाँ 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य' ही कहकर 'कामकारतः' (मनमाने ढंगसे) की जगह 'श्रद्धयान्विताः' (श्रद्धासे) कहते हैं, 'वर्तते' (बर्ताव करता है) की जगह 'यजन्ते' (यजन करता है) कहते हैं; और 'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्' (वह सिद्धि, सुख और परमगतिको प्राप्त नहीं होता) की जगह 'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः' (उनकी निष्ठा कौन-सी है ? सात्त्विकी—दैवी-सम्पत्तिवाली अथवा राजसी-तामसी—आसुरी सम्पत्तिवाली ?) कहकर भगवान्‌से प्रश्न पूछते हैं ।

† शास्त्रविधिका त्याग तीन कारणोंसे होता है—(१) अज्ञतासे, (२) उपेक्षासे और (३) विरोधसे ।

आगे आनेवाली जनतामें शास्त्रका ज्ञान बहुत कम रहेगा। उन्हें अच्छा सत्सङ्ग मिलना भी कठिन होगा; क्योंकि अच्छे संत-महात्मा पहले युगोंमें भी कम हुए हैं, फिर कलियुगमें तो और भी कम होंगे। कम होनेपर भी यदि भीतर चाहना हो तो उन्हें सत्सङ्ग मिल सकता है। परंतु मुश्किल यह है कि कलियुगमें दम्भ, पाखण्ड ज्यादा होनेसे कई दम्भी और पाखण्डी पुरुष संत बने हुए हैं। अतः सच्चे संत पहचानमें आने मुश्किल हैं। इस प्रकार पहले तो संत-महात्मा मिलने कठिन हैं, और मिल भी जायँ तो उनमेंसे कौन-से संत कैसे हैं—इस बातकी पहचान प्रायः नहीं होती, और पहचान हुए बिना उनका सङ्ग करके विशेष लाभ ले लें—ऐसी बात भी नहीं है। तो शास्त्रविधिको भी नहीं जानते और असली संतोंका सङ्ग भी नहीं मिलता, परंतु जो कुछ यजन-पूजन करते हैं, श्रद्धासे करते हैं। ऐसे पुरुषोंकी निष्ठा कौन-सी होती है? सात्त्विकी अथवा राजसी-तामसी?

'सत्त्वमाहो रजस्तमः'—पदोंमें सत्त्वगुणको दैवी-सम्पत्तिमें और रजोगुण तथा तमोगुणको आसुरी-सम्पत्तिमें ले लिया गया है। रजोगुणको आसुरी-सम्पत्तिमें क्यों लिया? कारण कि रजोगुण तमोगुणके बहुत निकट है।* गीतामें कई जगह ऐसी बात आयी है;

* तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—तीनों गुणोंमें परस्पर दस गुना अन्तर है। जैसे एकका दस गुना दस; और दसका दसगुना सौ है, उसी तरह तमोगुण (१) से दसगुना श्रेष्ठ रजोगुण (१०) है, और रजोगुणसे दसगुना श्रेष्ठ सत्त्वगुण (१००) है। तात्पर्य यह है कि तमोगुण और रजोगुण पास-पासमें हैं, जब कि सत्त्वगुण दोनोंसे बहुत दूर है।

जैसे—दूसरे अध्यायके बासठवें-तिरसठवें श्लोकोंमें काम अर्थात् रजोगुणसे क्रोध और क्रोधसे मोहरूप तमोगुणका उत्पन्न होना बतलाया गया है।* ऐसे ही अठारहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'हिंसात्मक और शोकान्वितको रजोगुणी कर्ताका लक्षण बताया गया है। अठारहवें अध्यायके ही पचीसवें श्लोकमें 'हिंसा' को तामस-कर्मका लक्षण और पैंतीसवें श्लोकमें 'शोक' को तामस धृतिका लक्षण बताया गया है। इस प्रकार रजोगुण और तमोगुणके बहुत-से लक्षण आपसमें मिलते हैं।

सात्त्विक भाव, आचरण और विचार दैवी-सम्पत्तिके होते हैं और राजसी-तामसी भाव, आचरण और विचार आसुरी-सम्पत्तिके होते हैं। सम्पत्तिके अनुसार ही निष्ठा होती है अर्थात् मनुष्यके जैसे भाव, आचरण और विचार होते हैं, उसीके अनुसार उनकी स्थिति (निष्ठा) होती है। स्थितिके अनुसार ही अगाड़ी गति होती है। तो आप कहते हैं कि शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे आचरण करनेपर सिद्धि, सुख और परमगति नहीं मिलती, तो जब उनकी निष्ठाका ही पता नहीं, फिर उनकी गतिका क्या पता लगे? इसलिये 'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः' —आप उनकी निष्ठा बताइये, जिससे पता लग जाय कि वे सात्त्विकी गतिमें जानेवाले हैं या राजसी-तामसी गतिमें जानेवाले हैं।

---

* क्रोधका कारण रजोगुण है और कार्य तमोगुण है।

'कृष्ण'का अर्थ है—खींचनेवाला। यहाँ 'कृष्ण' सम्बोधनका तात्पर्य यह मालूम देता है कि आप ऐसे मनुष्योंको अन्तिम समयमें किस ओर खींचेंगे? उनको किस गतिकी तरफ ले जायँगे? छठे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भी अर्जुनने गति-विषयक प्रश्नमें 'कृष्ण' सम्बोधन दिया है—'कां गतिं कृष्ण गच्छति'। यहाँ भी अर्जुनका निष्ठा पूछनेका मतलब गतिमें ही है। ऐसे देखा जाय तो भगवान् गीताभरमें दो विषयोंपर ही ज्यादा बोले हैं (१) साधन-के विषयमें* और (२) गतिके विषयमें।† इतना किसी दूसरे विषयपर (विशेष) नहीं बोले हैं।

---

* बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने साधन-विषयक प्रश्न किया तो उत्तरमें भगवान्ने बारहवें अध्यायके दूसरेसे बीसवें श्लोकतकके उन्नीस श्लोक, तेरहवें अध्यायके पूरे चौंतीस श्लोक और चौदहवें अध्यायके पहलेसे बीसवें श्लोकतकके बीस श्लोक—इस तरह कुल तिहत्तर श्लोक कहे और अठारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर दूसरेसे पचहत्तरवें श्लोकतकके इकहत्तर श्लोक कहे—इस प्रकार कुल एक सौ चौवालीस (१४४) श्लोक भगवान्ने 'साधन' के विषयमें कहे हैं।

† छठे अध्यायके सैंतीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकोंमें किये गये अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भगवान्ने छठे अध्यायके चालीसवेंसे सैंतालीसवें श्लोकतकके आठ श्लोक और सातवें अध्यायके पूरे तीस श्लोक कहे। आठवें अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकोंमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर तीसरे-चौथे श्लोकोंमें भगवान्ने उनका उत्तर दिया। फिर पाँचवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतकके चौबीस श्लोक, नवें अध्यायके पूरे चौंतीस श्लोक और दसवें अध्यायके पहलेसे ग्यारहवें श्लोकतकके ग्यारह श्लोक कहे—इस प्रकार कुल एक सौ सात (१०७) श्लोक भगवान्ने 'गति' के विषयमें कहे हैं।

मनुष्यको भगवान् खींचते हैं या वह कर्मोंके अनुसार स्वयं खींचा जाता है ? वस्तुतः कर्मोंके अनुसार ही फल मिलता है, पर कर्मफलके विधायक होनेसे भगवान्‌का खींचना सम्पूर्ण फलोंमें होता है। तामसी कर्मोंका फल नरक होगा, तो भगवान् नरकोंकी तरफ खींचेंगे । वास्तवमें नरकोंके द्वारा पापोंका नाश करके प्रकारान्तरसे भगवान् अपनी तरफ ही खींचते हैं । उनका किसीसे भी वैर या द्वेष नहीं है। तभी तो आसुरी योनियोंमें जानेवालोंके लिये भगवान् कहते हैं कि वे मेरेको प्राप्त न होकर अधोगतिमें चले गये—**'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'** (१६।२०)। कारण कि उनका अधोगतिमें जाना भगवान्‌को सुहाता नहीं है। इस वास्ते सात्त्विक पुरुष हो, राजस पुरुष हो या तामस पुरुष हो, भगवान् सबको अपनी तरफ ही खींचते हैं। इसी भावसे 'कृष्ण' सम्बोधन आया है ।

सम्बन्ध—

शास्त्रविधिको न जाननेपर भी मनुष्यमात्रमें किसी-न-किसी प्रकारकी स्वभावजा श्रद्धा तो रहती ही है। उस श्रद्धाके भेद बतानेके लिये अगला श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

व्याख्या—

अर्जुनने निष्ठाको जाननेके लिये प्रश्न किया था, पर भगवान्

उसका उत्तर श्रद्धाको लेकर देते हैं; क्योंकि श्रद्धाके अनुसार ही निष्ठा होती है।

'त्रिविधा भवति श्रद्धा'—श्रद्धा तीन तरहकी होती है। वह श्रद्धा कौन-सी है? सङ्गजा है, शास्त्रजा है या स्वभावजा है? तो कहते हैं कि वह स्वभावजा है—'सा स्वभावजा' अर्थात् स्वभावसे पैदा हुई स्वतःसिद्ध श्रद्धा है। वह न तो सङ्गसे पैदा हुई है और न शास्त्रोंसे पैदा हुई है। वे स्वाभाविक इस प्रवाहमें बह रहे हैं और देवता आदिका पूजन करते जा रहे हैं।

'सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु'—वह स्वभावजा श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उन तीनोंको अलग-अलग सुनो।

पिछले श्लोकमें 'सत्त्वमाहो रजस्तमः'—पदोंमें 'आहो' अव्यय देनेका तात्पर्य यह था कि अर्जुनकी दृष्टिमें 'सत्त्व' से दैवी-सम्पत्ति और 'रजस्तमः' से आसुरी-सम्पत्ति—ये दो ही विभाग हैं और भगवान् भी बन्धनकी दृष्टिसे राजसी-तामसी दोनोंको आसुरी-सम्पत्ति ही मानते हैं—'निबन्धायासुरी मता'(१६।५)। परंतु बन्धनकी दृष्टिसे राजसी और तामसी एक होते हुए भी दोनोंके बन्धनमें भेद है। राजस पुरुष सकामभावसे शास्त्रविहित कर्म भी करते हैं तो वे स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाकर और वहाँके भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर फिर मृत्युलोकमें लौट आते हैं—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९।२१)। परंतु तामस

पुरुष शास्त्रविहित कर्म नहीं करते; अतः वे कामना और मूढ़ताके कारण अधमगतिमें जाते हैं—'अधो गच्छन्ति तामसाः' (गीता १४ । १८) इस प्रकार राजस और तामस—दोनों ही पुरुषोंका बन्धन बना रहता है। दोनोंके बन्धनमें भेदकी दृष्टिसे ही भगवान् आसुरी-सम्पदावालोंकी श्रद्धाको राजसी और तामसी दो भेद करते हैं, और सात्त्विकी, राजसी और तामसी—तीनों श्रद्धाओंको अलग-अलग सुननेके लिये कहते हैं।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें वर्णित स्वभावजा श्रद्धाके तीन भेद क्यों होते हैं ? इसे भगवान् अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

व्याख्या—

पिछले श्लोकमें जिसे 'स्वभावजा' कहा गया है, उसीको यहाँ 'सत्त्वानुरूपा' कहा है। 'सत्त्व' नाम अन्तःकरणका है। अन्तःकरणके अनुरूप श्रद्धा होती है अर्थात् अन्तःकरण जैसा होता है, उसमें सात्त्विक, राजस या तामस जैसे संस्कार होते हैं, वैसी ही श्रद्धा होती है।

दूसरे श्लोकमें जिनको 'देहिनाम्' पदसे कहा था, उन्हींको यहाँ 'सर्वस्य' पदसे कह रहे हैं। 'सर्वस्य' पदका तात्पर्य है कि जो शास्त्रविधिको न जानते हों और देवता आदिका पूजन करते हों—उनकी ही नहीं, प्रत्युत शास्त्रविधिको जानता हो या न

क्योंकि दैवी-सम्पत्तिमें 'देव' शब्द ईश्वरका वाचक है और उसकी सम्पत्ति अर्थात् दैवी-सम्पत्ति मुक्ति देनेवाली है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' (१६ । ५)। वह दैवी-सम्पत्ति जिनमें प्रकट होती है, उन (दैवी-सम्पत्तिवाले) साधकोंकी स्वाभाविक श्रद्धाकी पहचान बतलानेके लिये यहाँ 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' पद आये हैं।

ईश्वरकोटिके देवताओंमें भी साधकोंकी श्रद्धा अलग-अलग होती है। किसीकी श्रद्धा भगवान् विष्णुमें होती है, किसीकी भगवान् शंकरमें होती है, किसीकी भगवान् गणेशमें होती है, किसीकी भगवती शक्तिमें होती है और किसीकी भगवान् सूर्यमें होती है। ईश्वरके जिस रूपमें उनकी स्वाभाविक श्रद्धा होती है, उसीका वे विशेषतासे यजन-पूजन करते हैं।

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनी-कुमार—इन तैंतीस प्रकारके शास्त्रोक्त देवताओंका निष्कामभावसे पूजन करना भी 'यजन्ते सात्त्विका देवान्'के अन्तर्गत मानना चाहिये।

'यक्षरक्षांसि राजसाः'—राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंका पूजन करते हैं। यक्ष-राक्षस भी देवयोनिमें हैं। यक्षोंमें धनके संग्रहकी मुख्यता होती है, और राक्षसोंमें दूसरोंका नाश करनेकी मुख्यता होती है। अपनी कामनापूर्तिके लिये और दूसरोंका विनाश करनेके लिये राजस पुरुषोंमें यक्ष और राक्षसोंके पूजनकी प्रवृत्ति होती है।

'प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः'—तामस पुरुष प्रेतों तथा भूतोंका पूजन करते हैं। जो मर गये हैं, उन्हें 'प्रेत' कहते हैं और जो भूतयोनिमें चले गये हैं, उन्हें 'भूत' कहते हैं।

यहाँ 'प्रेत' शब्दके अन्तर्गत जो अपने पितर हैं, उनको नहीं लेना चाहिये; क्योंकि जो अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे अपने-अपने पितरोंका पूजन करते हैं, वे तामस नहीं कहलायेंगे, प्रत्युत सात्त्विक ही कहलायेंगे। अपने-अपने पितरोंके पूजनका भगवान्‌ने निषेध नहीं किया है—'पितॄन्यान्ति पितृव्रताः' (गीता ९। २५)। तात्पर्य यह कि जो पितरोंका सकामभावसे पूजन करते हैं कि पितर हमारी रक्षा करेंगे अथवा हम जैसे पिता-पितामह आदिके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि करते हैं, ऐसे ही हमारी कुल-परम्परावाले भी हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण आदि करेंगे। ऐसे भावसे पूजन करनेवाले पितरोंको जाते हैं। परंतु अपने माता-पिता, दादा-दादी आदि पितरोंको पूजनेसे पितरोंको जायँगे—यह बात नहीं है। जो पितृऋणसे उऋण होना अपना कर्तव्य समझते हैं और इसीलिये (अपना कर्तव्य समझकर) निष्कामभावसे पितरोंका पूजन करते हैं, वे पुरुष सात्त्विक हैं, राजस नहीं हैं। पितृलोकको वही जायँगे, जो 'पितृव्रताः' हैं अर्थात् जो पितरोंको ही सर्वोपरि और अपना इष्ट मानते हैं तथा पितरोंपर ही निष्ठा रखते हैं। ऐसे लोग ऊँचे-से-ऊँचे प्रेतलोक यानी पितृलोकको जायँगे, पर उससे आगाड़ी नहीं जा सकते।

कुत्ते, कौए आदिको भी निष्कामभावसे रोटी दी जाती है (शास्त्रमें ऐसा विधान है), पर उससे उनकी योनि प्राप्त नहीं होती; क्योंकि वह उनका इष्ट नहीं है। वे तो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं। इसी प्रकार पितरोंका श्राद्ध-तर्पण आदि भी शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावपूर्वक करनेसे पितृयोनि प्राप्त नहीं होती।

शास्त्र या भगवान्‌की आज्ञा मानकर करनेसे उनका उद्धार होगा। इसलिये यहाँ शास्त्रविहित नारायणबलि, गयाश्राद्ध आदि प्रेतकर्मोंको नहीं लेना चाहिये; क्योंकि ये तो मृत प्राणीकी सद्‌गतिके लिये किये जानेवाले आवश्यक कर्म हैं, जिन्हें मरे हुए प्राणीके लिये शास्त्रकी आज्ञानुसार हरेकको करना चाहिये।

हम शास्त्रविहित यज्ञ आदि शुभ कर्म करते हैं, तो उनमें पहले गणेशजी, नवग्रह, षोडश मातृका आदिका पूजन शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे करते हैं। यह वास्तवमें नवग्रह आदिका पूजन न होकर शास्त्रका ही पूजन, आदर हुआ। जैसे, स्त्री पतिकी सेवा करती है, तो उसका कल्याण हो जाता है। विवाह तो हरेक पुरुषका हो सकता है, राक्षसका भी और असुरका भी। वे भी पति बन सकते हैं। परंतु वास्तवमें कल्याण पतिकी सेवासे नहीं होता है, प्रत्युत पतिकी सेवा करना—पातिव्रतधर्मका पालन करना ऋषि, शास्त्र, भगवान्‌की आज्ञा है, इसलिये इनकी आज्ञाके पालनसे ही कल्याण होता है।

देवता आदिके पूजनसे पूजक (पूजा करनेवाले) की गति वैसी ही होगी—यह बतानेके लिये 'यजन्ते' पद नहीं आया है। अर्जुनने शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धापूर्वक यजन-पूजन करनेवालों-की निष्ठा पूछी थी; अतः अपने-अपने इष्ट (पूज्य) के अनुसार पूजकोंकी कैसी निष्ठा—श्रद्धा होती है, इसकी पहचान बतानेके लिये ही 'यजन्ते' पद आया है।

सम्बन्ध—

अबतक उन पुरुषोंकी बात बतायी, जो शास्त्रविधिको
जाननेके कारण उसका (अज्ञतापूर्वक) त्याग करते हैं; परंतु अप
हुए तथा उसके यजन-पूजनमें श्रद्धा रखते हैं। अब विरोधपूर्वक
शास्त्रविधिका त्याग करनेवाले श्रद्धारहित पुरुषोंकी क्रियाओंका वर्णन
अगले दो श्लोकोंमें करते हैं।

श्लोक—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

व्याख्या—

'अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः'—शास्त्रमें जिनका
विधान नहीं है, प्रत्युत निषेध है, ऐसे घोर तपको करनेमें जिनकी
रुचि है अर्थात् जिनकी रुचि सदा शास्त्रसे विपरीत ही होती है।
कारण कि तामसी बुद्धि* होनेसे वे स्वयं तो इसको जानते
नहीं और दूसरा कोई बता भी दे तो वे न मानकर चाहते हैं
तथान वैसा करना ही चाहते हैं।

'दम्भाहंकारसंयुक्ताः'—उनके भीतर यह बात भरी हुई
हुई रहती है कि आज संसारमें जितने भजन, ध्यान, सत्संग
आदि करते हैं, वे सब दम्भ करते हैं अर्थात् दिखावटीपनसे

* अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
(गीता १८।३२)

लिये करते हैं । दम्भके विना दूसरा कुछ है ही नहीं । अतः दम्भसे ही हमारा काम चलता है—इस प्रकार दम्भके अभिमान-से युक्त रहते हैं ।

'कामरागबलान्विताः'—'काम' शब्द भोग-पदार्थोंका वाचक है । उन पदार्थोंमें रँग जाना, तल्लीन हो जाना, एकरस हो जाना 'राग' है और उनको प्राप्त करनेका अथवा उनको बनाये रखनेका जो हठ, दुराग्रह है, वह 'बल' है । इनसे वे सदा युक्त रहते हैं । उन आसुर-स्वभाववाले लोगोंमें यह भाव रहता है कि मनुष्य-शरीर पाकर इन भोगोंको नहीं भोगे, तो मनुष्य-शरीर पशुकी तरह ही है। सांसारिक भोग-सामग्रीको मनुष्यने प्राप्त नहीं किया, तो फिर उसने क्या किया ? मनुष्य-शरीर पाकर मनचाही भोग-सामग्री नहीं मिली, तो फिर उसका जीवन ही व्यर्थ है आदि-आदि । इस प्रकार वे प्राप्त सामग्रीको भोगनेमें सदा तल्लीन रहते हैं और धन-सम्पत्ति आदि भोग-सामग्रीको प्राप्त करनेके लिये हठपूर्वक, जिदसे तप किया करते हैं ।

'कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम्'—वे शरीरमें स्थित पाँच भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) को कृश करते हैं, शरीरको सुखाते हैं और इसीको तप समझते हैं । शरीरको कष्ट दिये बिना तप नहीं होता—ऐसी उनकी स्वाभाविक धारणा है ।

आगे चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें शरीर, वाणी और मनके तपका वर्णन हुआ है । वहाँ शरीरको कष्ट देनेकी बात नहीं है । बड़ी शान्तिसे तप होता है । परंतु यहाँ जिस तपकी

जाता है, वह शास्त्रविरुद्ध घोर तप है और अविधिपूर्वक शरीरको कष्ट देकर किया जाता है।

'मां चैवान्तःशरीरस्थम्'—भगवान् कहते हैं कि ऐसे लोग अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी दुःख देते हैं। कैसे? वे मेरी आज्ञा, मेरे मतके अनुसार नहीं चलते, प्रत्युत उसके विपरीत चलते हैं तो मेरेको दुःख देते हैं। एक मेरी आज्ञाके विरुद्ध काम करते हैं तो मेरेको दुःख देते हैं और एक शरीरको सुखाकर उसे दुःख देते हैं तो मेरेको दुःख देते हैं।

अर्जुनने पूछा था कि वे कौन-सी निष्ठावाले हैं—सात्त्विक हैं कि राजस-तामस? दैवी-सम्पत्तिवाले हैं कि आसुरी-सम्पत्तिवाले? तो भगवान् कहते हैं कि उनको आसुर निश्चयवाले समझो—**'तान्विद्धि आसुरनिश्चयान्'**। यहाँ **'आसुरनिश्चयान्'** पद सामान्य आसुरी-सम्पत्तिवालोंका वाचक नहीं है, प्रत्युत उनमें भी जो अत्यन्त नीच—विशेष नास्तिक हैं, उनका वाचक है।

'यजन्ते' का अर्थ है—यज्ञ; और गीतामें *'यज्ञ'* शब्द इतना व्यापक है कि इसके अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, वेदाध्ययन आदि सब शुभ कर्म आ जाते हैं। और तो क्या, अपने वर्ण-आश्रमके कर्तव्य-कर्मोंको भगवदर्पणका उद्देश्य रखकर किया जाय, तो वे सब भी यज्ञके अन्तर्गत आ जाते हैं। फिर यहाँ **'यजन्ते'** पद न देकर **'तप्यन्ते'** पद क्यों दिया? कारण कि आसुर-निश्चयवाले मनुष्योंकी तप करनेमें ही पूज्य बुद्धि होती है—तप ही उनका यज्ञ होता है और वे शरीरको तपानेको ही तप मानते हैं। उनके तप-

का लक्षण है—शरीरको सुखाना, कष्ट देना। वे तपको बहुत महत्त्व देते हैं, उसे बहुत अच्छा मानते हैं, पर भगवान्‌को, शास्त्रको नहीं मानते। तप वही करेंगे, जो शास्त्रके विरुद्ध है। बहुत ज्यादा भूखे रहना, काँटोंपर सोना, उल्टे लटकना, एक पैरसे खड़े होना, शास्त्राज्ञासे विरुद्ध अग्नि तापना, अपने शरीर, मन, इन्द्रियोंको किसी तरहसे कष्ट पहुँचाना आदि—ये सब आसुर-निश्चयवालोंके तप होते हैं।

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रविधिको जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करके दान, सेवा, उपकार आदि शुभ-कर्मोंको करनेकी बात आयी है, जो इतनी बुरी नहीं है; क्योंकि उनके दान आदि कर्म शास्त्रविधियुक्त तो नहीं हैं, पर शास्त्रनिषिद्ध भी नहीं हैं। परंतु यहाँ जो शास्त्रोंमें विहित नहीं है, उसको ही श्रेष्ठ मानकर मनमाने ढंगसे विपरीत कर्म करनेकी बात है। तो दोनोंमें फर्क क्या हुआ? तेईसवें श्लोकमें कहे लोगोंको सिद्धि, सुख और परमगति नहीं मिलेगी अर्थात् उनके नाममात्रके शुभ-कर्मोंका पूरा फल नहीं मिलेगा। परंतु यहाँ कहे लोगोंको तो नीच योनियों तथा नरकोंकी प्राप्ति होगी; क्योंकि इनमें दम्भ, अभिमान आदि हैं। ये शास्त्रोंको मानते भी नहीं, सुनते भी नहीं और कोई सुनाना चाहे तो सुनना चाहते भी नहीं।

सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें शास्त्रका 'उपेक्षापूर्वक' त्याग है, इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नके अनुसार शास्त्रका 'अज्ञतापूर्वक' त्याग है और यहाँ शास्त्रका 'विरोधपूर्वक'

त्याग है। आगे तामस यज्ञादिमें भी शास्त्रकी उपेक्षा है। परंतु यहाँ श्रद्धा, शास्त्रविधि, भूत-समुदाय और भगवान्—इन चारोंके साथ विरोध है। ऐसा विरोध दूसरी जगह किये राजसी-तामसी वर्णनमें नहीं है।

सम्बन्ध—

यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार भी यजन न करे, तो उसकी श्रद्धा कैसे पहचानी जायगी—इसे बतानेके लिये भगवान् आहारकी रुचिसे आहारीकी निष्ठाकी पहचानका प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

व्याख्या—

'आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः'—चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाकी परीक्षाके लिये सात्त्विक, राजस और तामस—तीन तरहका यजन बताया। परंतु जिनकी श्रद्धा, रुचि, प्रियता यजन-पूजनमें नहीं है, उनकी निष्ठाकी पहचान कैसे हो? तो जिनकी यजन-पूजनमें श्रद्धा नहीं है, ऐसे मनुष्योंको भी शरीर-निर्वाहके लिये भोजन तो करना ही पड़ता है, चाहे वह नास्तिक हो, चाहे आस्तिक हो, चाहे वैदिक सम्प्रदायवाला अथवा चाहे ईसाई, पारसी, यहूदी, यवन आदि किसी सम्प्रदायका हो। उन सबके लिये यहाँ 'आहारस्त्वपि' पद दिये हैं अर्थात् निष्ठाकी पहचानके लिये केवल यजन-पूजन ही नहीं है, प्रत्युत भोजनकी रुचिसे ही उनकी निष्ठाकी पहचान हो जायगी।

पुरुषका मन स्वाभाविक ही किस भोजनमें ललचाता है अर्थात् किस भोजनकी बात सुनकर, उसे देखकर और उसे चखकर मन आकृष्ट होता है, उसके अनुसार उसकी सात्त्विकी, राजसी या तामसी निष्ठा मानी जाती है।

यहाँ कोई ऐसा भी कह सकता है कि सात्त्विक, राजस और तामस आहार कैसा-कैसा होता है—इसे बतानेके लिये यह प्रकरण आया है। स्थूलदृष्टिसे देखनेपर तो ऐसा ही दीखता है; परंतु विचार-पूर्वक गहराईसे देखनेपर यह बात दीखती नहीं। वास्तवमें यहाँ आहारका वर्णन नहीं है, प्रत्युत आहारीकी रुचिका वर्णन है। अतः आहारीकी श्रद्धाकी पहचान कैसे हो? यह बतानेके लिये ही यह प्रकरण आया है।

यहाँ 'सर्वस्य' और 'प्रियः' पदोंको देनेका तात्पर्य यह है कि सामान्यरूपसे सम्पूर्ण मनुष्योंमें एक-एककी किस-किस भोजनमें रुचि होती है, जिससे उनकी सात्त्विकी, राजसी और तामसी निष्ठाकी पहचान हो। ऐसे ही **'यज्ञस्तपस्तथा दानम्'*** पदोंका तात्पर्य यह है कि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उनमें भी उन-उन पुरुषोंकी यज्ञ, तप आदि किस-किस कर्ममें कैसी-कैसी रुचि—प्रियता होती है। यहाँ 'तथा' कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे पूजन तीन तरहका होता है और जैसे आहार तीन तरहका प्रिय होता है, इसी तरह

---

* यद्यपि यहाँ 'यज्ञ' शब्द होमरूप यज्ञका ही वाचक है, सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंका नहीं (क्योंकि यज्ञके साथ तप और दान अलगसे आये हैं), तथापि गौणतासे तीर्थ, व्रत आदि कर्तव्य-कर्म भी लिये जा सकते हैं।

शास्त्रीय यज्ञ, तप आदि कर्म भी तीन तरहके होते हैं। इससे यहाँ एक और बात भी सिद्ध होती है कि शास्त्र, सत्सङ्ग, विवेचन, वार्तालाप, कहानी, पुस्तक, व्रत, तीर्थ, व्यक्ति आदि जो-जो भी सामने आयेंगे, उनमें जो सात्त्विक होगा वह सात्त्विक पुरुषको, जो राजस होगा, वह राजस पुरुषको और जो तामस होगा, वह तामस पुरुषको प्रिय लगेगा।

'तेषां भेदमिमं शृणु'—यज्ञ, तप और दानके भेद सुनो अर्थात् मनुष्यकी स्वाभाविक रुचि, प्रवृत्ति और प्रसन्नता किस-किसमें होती है, उसको तुम सुनो। जैसे अपनी रुचिके अनुसार कोई ब्राह्मणको दान करना पसंद करता है, तो कोई अन्य साधारण मनुष्यको दान करना ही पसंद करता है। कोई शुद्ध आचरणवाले व्यक्तियोंके साथ मित्रता करते हैं, तो कोई जिनका खान-पान, आचरण आदि शुद्ध नहीं हैं, ऐसे मनुष्योंके साथ ही मित्रता करते हैं आदि-आदि।*

तात्पर्य यह कि सात्त्विक पुरुषोंकी रुचि सात्त्विक खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदिमें होती है और उन्हींका सङ्ग करना उनको अच्छा लगता है। राजस पुरुषोंकी रुचि राजस खान-पान, रहन-सहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदिमें होती है

---

* मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधयः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्॥

'जिस प्रकार पशुओंमें हरिण आदि हरिण आदिके साथ, गायें गायोंके साथ, घोड़े घोड़ोंके साथ ही चलते-फिरते हैं, उसी प्रकार मनुष्योंमें भी मूर्ख मूर्खोंके साथ और विद्वान् विद्वानोंके साथ मित्रता आदिका व्यवहार करते हैं; क्योंकि मित्रता समान स्वभाव, आचरण आदिमें ही होती है।'

और उन्हींका सङ्ग उनको अच्छा लगता है। तामस पुरुषोंकी रुचि तामस खान-पान, रहन-सहन आदिमें तथा शास्त्रनिषिद्ध आचरण करनेवाले नीच पुरुषोंके साथ उठने-बैठने, खाने-पीने, बातचीत करने, साथ रहने, मित्रता करने आदिमें होती है और इन्हींका सङ्ग उनको अच्छा लगता है तथा इसी तरहके आचरणोंमें उनकी प्रवृत्ति होती है।

श्लोक—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

व्याख्या—

'आयुः'—जिन आहारोंके करनेसे मनुष्यकी आयु बढ़ती है; **सत्त्वम्'**—सत्त्वगुण बढ़ता है; **'बलम्'**—* शरीर, मन, बुद्धि, आदिमें बल एवं उत्साह पैदा होता है; **'आरोग्यः'**—शरीरमें नीरोगता बढ़ती है; **'सुखम्'**—सुख-शान्ति प्राप्त होती है; और **'प्रीतिविवर्धनाः'**—जिनको देखनेसे ही प्रीति पैदा होती है†, वे अच्छे लगते हैं।

---

* यहाँ 'बल' शब्द सात्त्विक बलका वाचक है। सोलहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें आये 'अहंकारं बलं दर्पम्' पदोंमें तथा इसी (सत्रहवें) अध्यायके पाँचवें श्लोकमें आये 'कामरागबलान्विताः' में 'बल' शब्द हठके वाचक हैं।

† ऐसे तो अनुकूल आहार मिलनेपर राजसी पुरुषको भी प्रीति होगी, पर वह प्रीति परिणाममें विष हो जायगी (१८। ३८)। ऐसे ही तामसी पुरुषको भी प्रीति होगी, पर वह प्रीति परिणाममें उसको मूढ़तामें अर्थात् अतिनिद्रा, आलस्य और प्रमाद (खेल-तमाशे, व्यर्थ बकवाद, दुर्व्यसन आदि) में लगा देगी (१८। ३९)।

इस प्रकारके 'स्थिराः'—जो गरिष्ठ नहीं, प्रत्युत सुपाच्य हों और जिनका सार बहुत दिनतक शरीरमें शक्ति देता रहता है; और 'हृद्याः'—हृदय, फेफड़े आदिको शक्ति देनेवाले तथा बुद्धि आदिमें सौम्य भाव लानेवाले; 'रस्याः'—फल, दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थ; 'स्निग्धाः'—घी, मक्खन, बादाम, काजू, किशमिश, सात्त्विक पदार्थोंसे निकले हुए तेल आदि स्नेहयुक्त भोजनके पदार्थ, जो अच्छे पके हुए तथा ताजे हों।

'आहाराः सात्त्विकप्रियाः' ऐसे भोजनके (भोज्य, पेय, लेह्य और चोष्य) पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्यारे लगते हैं। अतः ऐसे आहारमें रुचि होनेसे उसकी पहचान हो जाती है कि यह पुरुष सात्त्विक है।

श्लोक—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

व्याख्या—

'कटु'—करेला, मेथी, कैर आदि कड़वे पदार्थ; 'अम्ल'—इमली, अमचूर, नीबू, छाछ, सड़न पैदा करके बनाया गया सिरका आदि खट्टे पदार्थ; 'लवणम्'—अधिक नमकवाले पदार्थ; 'अत्युष्णम्'—जिनसे भाप निकल रही हो, ऐसे अत्यन्त गरम-गरम पदार्थ; 'तीक्ष्णम्'—जिसके खानेसे नाक, आँख, मुख और सिरसे पानी आने लगे, ऐसे लाल मिर्च आदि तीखे पदार्थ; 'रूक्षम्'—जिनमें घी, दूध आदिका सम्बन्ध नहीं है, ऐसे भूने हुए चने, सतुवा आदि पदार्थ; और 'विदाहिनः'—राई आदि दाहकारक

पदार्थ (राईको दो-तीन घंटे छाछमें भिगोकर रखा जाय, तो उसमें एक खमीर पैदा होता है, वह बहुत दाहकारक होता है)।

'आहाराः राजसस्येष्टाः'—इस प्रकारके भोजनके (भोज्य, पेय, लेह्य और चोष्य) पदार्थ राजस पुरुषको प्यारे होते हैं। इससे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जाती है।

'दुःखशोकामयप्रदाः'—परंतु ऐसे पदार्थ परिणाममें दुःख, शोक और रोगोंको देनेवाले होते हैं। खट्टा, तीखा और दाहकारक भोजन करते समय मुख आदिमें जो जलन होती है, यह दुःख है। भोजन करनेके बाद मनमें प्रसन्नता नहीं होती, प्रत्युत स्वाभाविक चिन्ता रहती है, यह शोक है। ऐसे भोजनसे शरीरमें प्रायः रोग होते हैं।

श्लोक—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

व्याख्या—

'यातयामम्'—पकनेके लिये जिनको पूरा समय प्राप्त नहीं हुआ है—ऐसे अधपके अथवा उचित समयसे ज्यादा पके हुए अथवा जिनका समय बीत गया है अर्थात् बिना ऋतुके पैदा किये हुए एवं ऋतु चली जानेपर फ्रिज आदिकी सहायतासे रखे हुए—ऐसे साग, फल आदि भोजनके पदार्थ।

'गतरसम्'—धूप आदिसे जिनका स्वाभाविक रस सूख गया है अथवा मशीन आदिसे जिनका सार खींच लिया गया है, ऐसे दूध, फल आदि।

'पूति'—सड़नसे पैदा की गयी मदिरा और स्वाभाविक दुर्गन्धवाले प्याज, लहसुन आदि।

'पर्युषितम्'—जल और नमक मिलाये हुए साग, रोटी आदि पदार्थ रात बीतनेपर बासी कहलाते हैं। परंतु केवल शुद्ध दूध, घी, चीनी आदिसे बने हुए अथवा अग्निपर पकाये हुए पेड़ा, जलेबी, लड्डू आदि जो पदार्थ हैं, उनमें जबतक विकृति नहीं आती, तबतक वे बासी नहीं माने जाते। अधिक समय रहनेपर उनमें विकृति (दुर्गन्ध आदि) पैदा होनेसे वे भी बासी कहे जायँगे।

'उच्छिष्टम्—मुक्तावशेष अर्थात् भोजनके बाद पात्रमें बचा हुआ अथवा जूठा हाथ लगा हुआ और जिसको गाय, बिल्ली, कुत्ता, कौआ आदि पशु-पक्षी देख ले, सूँघ ले या खा ले—वह सब जूठन माना जाता है।

'अमेध्यम्'—रज-वीर्यसे पैदा हुए मांस, मछली, अंडा आदि अपवित्र पदार्थ, जो मुर्दा हैं और जिनको छूनेमात्रसे स्नान करना पड़ता है।*

'अपि च'—इन अव्ययोंके प्रयोगसे उन सब पदार्थोंको ले लेना चाहिये, जो शास्त्रनिषिद्ध हैं अर्थात् जिस वर्ण, आश्रमके लिये जिन-जिन पदार्थोंका निषेध है, उस वर्ण-आश्रमके लिये उन-उन पदार्थोंको अमेध्य माना गया है; जैसे—मसूर, गाजर, शलगम आदि।

'भोजनं तामसप्रियम्'—ऐसे भोजनके (भोज्य, पेय, लेह्य और

---

* यहाँ तामस भोजनमें 'अमेध्य' शब्दका प्रयोग करके भगवान् मानो इन चीजोंका नाम भी लेना नहीं चाहते।

चोष्य) पदार्थ तामस पुरुषको प्रिय लगते हैं। इससे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जाती है।

उपर्युक्त भोजनोंमेंसे सात्त्विक भोजन भी रागपूर्वक खाया जाय, तो वह राजस हो जायगा और लोलुपतावश अधिक खाया जाय (जिससे अजीर्ण आदि हो) तो वह तामस हो जायगा। ऐसे ही भिक्षुकको विधिसे प्राप्त भिक्षा आदिमें रूखा, सूखा, तीखा और बासी भोजन प्राप्त हो जाय, जो कि राजस-तामस है, पर वह उसको भगवान्‌के भोग लगाकर भगवन्नाम लेते हुए* स्वल्पमात्रामें† खाये, तो वह भोजन भी भाव और त्यागकी दृष्टिसे सात्त्विक हो जाता है।

चार श्लोकोंके इस प्रकरणमें तीन तरहके—सात्त्विक, राजस और तामस आहारोंका वर्णन दीखता है, परंतु वास्तवमें यहाँ आहारोंका प्रसङ्ग नहीं है, प्रत्युत आहारीकी रुचिका प्रसङ्ग है। इसलिये यहाँ 'आहारी'की रुचिका ही वर्णन हुआ है—इसमें निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं—

(१) सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें आये 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः' पदोंको लेकर अर्जुनने प्रश्न

* कवले कवले कुर्वन् रामनामानुकीर्तनम्।
यः कश्चित् पुरुषोऽश्नाति सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते॥

† स्वल्पमात्रामें खानेका तात्पर्य यह है कि भोजन करनेके बाद पेट याद न आये; क्योंकि पेट दो कारणोंसे याद आता है—अधिक खानेपर और बहुत कम खानेपर।

रागी होनेसे राजस पुरुषकी दृष्टि सबसे पहले भोजनपर ही जाती है, इसलिये राजस आहारके वर्णनमें पहले भोजनके पदार्थोंका वर्णन करके बादमें 'दुःखशोकामयप्रदाः' पदसे उसका फल बताया है। तात्पर्य यह कि राजस पुरुष अगर आरम्भमें ही भोजनके परिणामपर विचार करेगा, तो फिर उसे राजस भोजन करनेमें हिचकिचाहट होगी; क्योंकि परिणाममें मुझे दुःख, शोक और रोग हो जायँ—ऐसा कोई मनुष्य नहीं चाहता। परंतु राग होनेके कारण राजस पुरुष परिणामपर विचार करता ही नहीं।

सात्त्विक भोजनका फल पहले और राजस भोजनका फल पीछे बताया गया; परंतु तामस भोजनका फल बताया ही नहीं गया। कारण कि मूढ़ता होनेके कारण तामस पुरुषका भोजन और उसके परिणामपर विचार होता ही नहीं। अर्थात् भोजन न्याययुक्त है या नहीं, उसमें हमारा अधिकार है या नहीं, शास्त्रोंकी आज्ञा है या नहीं और परिणाममें हमारे मन-बुद्धिके बलको बढ़ानेमें हेतु है या नहीं—इन बातोंका कुछ भी विचार न करके तामस पुरुष पशुकी तरह खानेमें प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य यह कि सात्त्विक भोजन करनेवाला तो दैवी-सम्पत्तिवाला होता है और राजस तथा तामस भोजन करनेवाला आसुरी-सम्पत्तिवाला होता है।

(३) यदि भगवान्‌को यहाँ आहारका ही वर्णन करना होता, तो वे आहारकी विधिका और उसके लिये कर्मोंकी शुद्धि-अशुद्धिका वर्णन करते; जैसे—

शुद्ध कमाईके पैसे हों, अनाज आदि पवित्र खाद्य पदार्थ ख
जायँ, रसोईमें चौका देकर और स्वच्छ वस्त्र पहनकर पवित्रतापूर्व
भोजन बनाया जाय, भोजनको भगवान्‌के अर्पित किया जाय अ
भगवान्‌का चिन्तन तथा उनके नामका जप करते हुए प्रसाद-बुद्धि
भोजन ग्रहण किया जाय—ऐसा भोजन सात्त्विक होता है।

स्वार्थ और अभिमानकी मुख्यताको लेकर सत्य-असत्यका कोई
विचार न करते हुए पैसे कमाये जायँ, स्वाद, शरीरकी पुष्टि, भोग
भोगनेकी सामर्थ्य बढ़ने आदिका उद्देश्य रखकर भोजनके पदार्थ
खरीदे जायँ, जिह्वाको स्वादिष्ट लगें और रखनेमें भी सुन्दर दीखें—
इस दृष्टिसे, रीतिसे उनको बनाया जाय, और आसक्तिपूर्वक खाया
जाय—ऐसा भोजन राजस होता है।

झूठ, कपट, चोरी, डकैती, धोखेबाजी आदि किसी तरहसे पैसे
कमाये जायँ, शुद्धि-अशुद्धिका कुछ भी विचार न करके मांस, अंडे
आदि पदार्थ खरीदे जायँ, विधि-विधानका कोई खयाल न करके
भोजन बनाया जाय और बिना हाथ-पैर धोये एवं चप्पल-जूती
पहनकर ही अशुद्ध वायुमण्डलमें उसे खाया जाय—ऐसा भोजन
तामस होता है।

परंतु भगवान्‌ने यहाँ केवल सात्त्विक, राजस और तामस
रुषोंको प्रिय लगनेवाले खाद्य पदार्थोंका वर्णन किया है, जिससे
नकी रुचिकी पहचान हो जाय।

(४) इसके सिवाय गीतामें जहाँ-जहाँ आहारकी बात आयी
वहाँ-वहाँ आहारीका ही वर्णन हुआ है, जैसे—'यज्ञशिष्टाशिन

(३ । १३) पदमें यज्ञशेष भोजन करनेवालोंका; 'नियताहाराः' और 'यज्ञशिष्टामृतभुजः' (४ । ३०-३१) पदोंमें नियमित आहार करनेवाले और यज्ञशेष अमृतको पानेवालोंका, 'नात्यश्नतस्तु' और 'युक्ताहारविहारस्य'(६ । १६-१७) पदोंमें अधिक खानेवाले और नियत खानेवालोंका; 'यदश्नासि' (९ । २७) पदमें भोजनके पदार्थको भगवान्‌के अर्पण करनेवालेका; और 'लघ्वाशी' (१८ । ५२) पदमें अल्प भोजन करनेवालोंका वर्णन हुआ है ।

इसी प्रकार इस अध्यायके सातवें श्लोकमें 'यज्ञस्तपस्तथा दानम्' पदोंमें आया 'तथा' (वैसे ही पद यह कह रहा है कि जो पुरुष यज्ञ, तप, दान आदि कार्य करते हैं, वे भी अपनी-अपनी (सात्त्विक, राजस अथवा तामस) रुचिके अनुसार ही कार्य करते हैं । इससे भी यही सिद्ध होता है कि ग्यारहवेंसे बाईसवें श्लोकतकका जो प्रकरण है, उसमें भी यज्ञ, तप और दान करनेवालोंके स्वभावका ही वर्णन हुआ है ।

[भोजनके लिये आवश्यक विचार—उपनिषदोंमें आता है कि जैसा अन्न होता है, वैसा ही मन बनता है—'अन्नमयं हि सोम्य मनः ।' (छान्दोग्य० ६ । ५ । ४) अर्थात् अन्नका असर मनपर पड़ता है । अन्नके सूक्ष्म सारभागसे मन (अन्तःकरण) बनता है, दूसरे नंबरके भागसे वीर्य, तीसरे नंबरके भागसे रक्त आदि और चौथे नंबरके स्थूल भागसे मल बनता है, जो कि बाहर निकल जाता है । इस वास्ते मनको शुद्ध बनानेके लिये भोजन शुद्ध, पवित्र होना चाहिये । भोजनकी शुद्धिसे मन (अन्तःकरण) की

शुद्धि होती है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छान्दोग्य० ७ । २६ । २) । जहाँ भोजन करते हैं, वहाँका स्थान, वायुमण्डल, दृश्य तथा जिसपर बैठकर भोजन करते हैं, वह आसन भी शुद्ध, पवित्र होना चाहिये । कारण कि भोजन करते समय प्राण जब अन्न ग्रहण करते हैं, तब वे शरीरके सभी रोमकूपोंसे आस-पासके परमाणुओंको भी खींचते—ग्रहण करते हैं । अतः वहाँका स्थान, वायुमण्डल आदि जैसे होंगे, वैसे ही परमाणु प्राण खींचेंगे और उन्हींके अनुसार मन बनेगा ।

भोजनके पहले दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—ये पाँचों शुद्ध-पवित्र जलसे धो लेने चाहिये । फिर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके शुद्ध आसनपर बैठकर भोजनकी सब चीजोंको **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥'** (गीता ९ । २६)—यह श्लोक पढ़कर भगवान्‌के अर्पण कर दे । अर्पणके बाद दायें हाथमें जल लेकर **'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥'*** (गीता ४ । २४)—यह श्लोक पढ़कर

* 'ब्रह्मार्पणम्'—जिससे अर्पण किया जाता है, वह स्रुवा—हाथ भी भगवान्‌का स्वरूप है—'सर्वतःपाणिपादं तत्' (१३ । १३) ।

'ब्रह्म हविः'—हव्य पदार्थ—भोजनके पदार्थ भी भगवान्‌के स्वरूप हैं—'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् । मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम्''''''॥ (९ । १६)

'ब्रह्माग्नौ'—ब्रह्मरूप अग्निमें—जठराग्निमें अर्थात् जठराग्नि भी भगवान्‌का स्वरूप है—'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥' (१५ । १४) ।

आचमन करें, और भोजनका पहला ग्रास भगवान्‌का नाम लेकर ही मुखमें डालें। प्रत्येक ग्रासको चबाते समय 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस मन्त्रको मनसे दो बार पढ़ते हुए या अपने इष्टका नाम लेते हुए उसे चबाये और निगले। इस मन्त्रमें कुल सोलह नाम हैं, और दो बार मन्त्र पढ़नेसे बत्तीस नाम हो जाते हैं। हमारे मुखमें भी बत्तीस ही दाँत हैं। अतः (मन्त्रके प्रत्येक नामके साथ) बत्तीस बार चबानेसे वह भोजन सुपाच्य और आरोग्यदायक होता है एवं थोड़े अन्नसे ही तृप्ति हो जाती है तथा उसका रस भी अच्छा बनता है। इसके साथ ही भोजन भी भजन बन जाता है।

जो लोग ईर्ष्या, भय और क्रोधसे युक्त हैं तथा लोभी हैं, और रोग तथा दीनतासे पीड़ित और द्वेषयुक्त हैं, वे जिस भोजनको करते हैं, वह भलीभाँति पचता नहीं अर्थात् उससे अजीर्ण हो जाता है।* इस वास्ते मनुष्यको चाहिये कि वह भोजन करते समय मनको

'ब्रह्मणा हुतम्'—होम करनेवाला—भोजन करनेवाला भी भगवान्‌का स्वरूप है—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।' (१० । २०)।

'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना'—इस प्रकार सबमें ब्रह्म-भगवद्बुद्धि होनेसे कर्ममात्र भगवत्स्वरूप है, ऐसे कर्म—भोजन करनेवाले पुरुषोंद्वारा प्रापणीय परमात्मा ही हैं, अर्थात् उनको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।' (४ । ३१)।

* ईर्ष्याभयक्रोधसमन्वितेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
विद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥
(भावप्रकाश-दिनचर्याप्रकरण ५ । २२८)

शान्त तथा प्रसन्न रखे। मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषों की वृत्तियोंको न आने दे। यदि कभी आ जायँ, तो उस समय भोजन न करे; क्योंकि वृत्तियोंका असर भोजनपर पड़ता है और उसीके अनुसार अन्तःकरण बनता है। ऐसा भी सुननेमें आया है कि फौजी लोग जब गायको दुहते हैं, तब दुहनेसे पहले बछड़ा छोड़ते हैं और उस बछड़ेके पीछे कुत्ता छोड़ते हैं। अपने बछड़ेके पीछे कुत्तेको देखकर जब गाय गुस्सेमें आ जाती है, तब बछड़ेको लाकर बाँध देते हैं और फिर गायको दुहते हैं। वह दूध फौजियोंको पिलाते हैं, जिससे वे लोग खूँखार बनते हैं।

ऐसे ही दूधका भी असर प्राणियोंपर पड़ता है। जैसे एक बार किसीने परीक्षाके लिये कुछ घोड़ोंको भैंसका दूध और कुछ घोड़ोंको गायका दूध पिलाकर उन्हें तैयार किया। एक दिन सभी घोड़े, कहीं जा रहे थे, तो रास्तेमें नदीका जल था। भैंसका दूध पीनेवाले घोड़े उस जलमें बैठ गये और गायका दूध पीनेवाले घोड़े उस जलको पार कर गये। इसी प्रकार; बैल और भैंसेका परस्पर युद्ध कराया जाय, तो भैंसा बैलको मार देगा, परंतु यदि दोनोंको गाड़ीमें जोता जाय, तो भैंसा धूपमें जीभ निकाल देगा, पर बैल धूपमें भी चलता रहेगा। कारण कि भैंसके दूधमें सात्त्विक बल नहीं होता, जब कि गायके दूधमें सात्त्विक बल होता है।

जिस प्रकार प्राणियोंकी वृत्तियोंका पदार्थोंपर असर पड़ता है, ऐसे ही प्राणियोंकी दृष्टिका भी असर पड़ता है। जैसे, बुरे व्यक्तिकी अथवा भूखे कुत्तेकी दृष्टि भोजनपर पड़ जाती है तो

वह भोजन अपवित्र हो जाता है । अब वह भोजन पवित्र कैसे हो? भोजनपर उसकी दृष्टि पड़ जाय, तो उसे देखकर मनमें प्रसन्न हो जाना चाहिये कि भगवान् पधारे हैं । अतः उसको सबसे पहले थोड़ा अन्न देकर भोजन करा दे। उसको देनेके बाद बचे हुए शुद्ध अन्नको स्वयं ग्रहण करे, तो दृष्टिदोष मिट जानेसे वह अन्न पवित्र हो जाता है।

दूसरी बात, लोग बछड़ेको पेटभर दूध न पिलाकर सारा दूध स्वयं दुह लेते हैं। वह दूध पवित्र नहीं होता; क्योंकि उसमें बछड़ेका हक आ जाता है । परंतु बछड़ेको पेटभर दूध पिला दे; और उसके बाद जो दूध निकलता है, वह चाहे पाव भर ही क्यों न हो, बहुत पवित्र होता है। कारण कि वह दूध यज्ञशेष हो जाता है। इस प्रकार यज्ञशेष अन्नको खानेवाले मनुष्य सब पापोंसे छूट जाते हैं—'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।'

भोजन करनेवाले और करानेवालेके भावका भी भोजनपर असर पड़ता है; जैसे—(१) भोजन करनेवालेकी अपेक्षा भोजन करानेवालेकी जितनी अधिक प्रसन्नता होगी, वह भोजन उतने ही उत्तम दर्जेका माना जायगा। (२) भोजन करानेवाला तो बड़ी प्रसन्नतासे भोजन कराता है; परंतु भोजन करनेवाला 'मुफ्तमें भोजन मिल गया; अपने इतने पैसे बच गये; इससे मेरेमें बल आ जायगा' आदि स्वार्थका भाव मिला लेता है, तो वह भोजन मध्यम दर्जेका हो जाता है, और (३) भोजन करानेवालेका यह भाव है कि 'यह घरपर आ गया तो खर्चा करना पड़ेगा, भोजन बनाना पड़ेगा, भोजन खिलाना ही

पड़ेगा आदि' और भोजन करनेवालेमें भी स्वार्थभाव है, तो वह भोजन निकृष्ट दर्जेका हो जायगा।

इस विषयमें गीताने सिद्धान्तरूपसे कह दिया है—'सर्वभूतहिते रताः' (५।२५, १२।४)। तात्पर्य यह कि जिसका सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव जितना अधिक होगा, उसके पदार्थ, क्रियाएँ आदि उतनी ही पवित्र हो जायँगी।

सम्बन्ध—

पहले यजन-पूजन और भोजनके द्वारा जो श्रद्धा बतायी, उससे शास्त्रविधिका अज्ञतापूर्वक त्याग करनेवालोंकी स्वाभाविक निष्ठा—रुचिकी तो पहचान हो जाती है; परंतु जो पुरुष व्यापार, खेती आदि जीविकाके कार्य करते हैं अथवा शास्त्रविहित यज्ञादि शुभ कर्म करते हैं, उनकी भी तो उन कर्मोंमें अपने-अपने स्वभावके अनुसार ही श्रद्धा, रुचि, प्रियता होगी। अतः उनकी रुचिके अनुसार ही यज्ञ, तप और दानके भी तीन-तीन भेद बतानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं।

श्लोक—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

व्याख्या—

'अफलाकाङ्क्षिभिः'—मनुष्य फलकी इच्छा रखनेवाला न हो अर्थात् लोक-परलोकमें मेरेको इस यज्ञका अमुक फल मिले—ऐसा भाव रखनेवाला न हो।

'यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते'—शास्त्रोंमें विधिके विषयमें जैसी आज्ञा दी गयी है, उस विधिके अनुसार ही यज्ञ किया जाय।

'यष्टव्यमेवेति'—जब मनुष्य-शरीर मिल गया और अपना कर्तव्य करनेका अधिकार भी प्राप्त हो गया, तो अपने वर्ण-आश्रममें शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ करनामात्र मेरा कर्तव्य है। 'एव इति'—ये दो अव्यय लगानेका तात्पर्य यह है कि इसके सिवाय दूसरा कोई भाव न रखे अर्थात् इस यज्ञसे इस लोकमें और परलोकमें अपनेको क्या मिलेगा? इससे अपनेको क्या लाभ होगा?—ऐसा भाव भी न रहे, केवल कर्तव्यमात्र रहे।

जब उससे कुछ मिलनेकी आशा ही नहीं रखनी है, तो फिर (फलेच्छाका त्याग करके) यज्ञ करें ही क्यों? करनेकी जरूरत ही क्या है?—इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—'मनः समाधाय' अर्थात् 'यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है' ऐसे मनको समाधान करके यज्ञ करना चाहिये। इस प्रकारसे जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक होता है—'सः सात्त्विकः'।

सात्त्विकताका क्या तात्पर्य होता है? अब इसपर थोड़ा विचार करें। 'यष्टव्यम्'*—'यज्ञ करनामात्र कर्तव्य है'—ऐसा जब उद्देश्य रहता है, तब उस यज्ञके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

---

* जो करनेयोग्य है, जो अपनी सामर्थ्यके अनुरूप है, जिसे अवश्य करना चाहिये और जिसको करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है, वह 'कर्तव्य' होता है। वही कर्तव्य यज्ञमें 'यष्टव्य' और दानमें 'दातव्य' है।

परंतु जब कर्तामें वर्तमानमें मान, आदर, सत्कार आदि मिलें, मरनेके बाद स्वर्गादि लोक मिलें तथा अगले जन्ममें धनादि पदार्थ मिलें—इस प्रकारकी इच्छाएँ होंगी, तब उसका उस यज्ञके साथ सम्बन्ध जुड़ जायगा। तात्पर्य यह कि फलकी इच्छा रखनेसे ही यज्ञके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। केवल कर्तव्यमात्रका पालन करनेसे उससे सम्बन्ध नहीं जुड़ता, प्रत्युत उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और (स्वार्थ और अभिमान न रहनेसे) कर्ताकी अहंता शुद्ध हो जाती है।

इसमें एक बड़ी मार्मिक बात है कि कुछ भी कर्म करनेमें कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध रहता है। कर्म कर्तासे अलग नहीं होता। कर्म कर्ताका ही चित्र होता है अर्थात् जैसा कर्ता होगा, वैसे ही कर्म होंगे। इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** अर्थात् जो जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है और वैसा ही (श्रद्धाके अनुसार) उससे कर्म होता है। तात्पर्य यह कि कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध है। कर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे ही कर्ताका बन्धन होता है। केवल कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे कर्ताका कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् कर्ता मुक्त हो जाता है।

केवल कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करना क्या है? अपने लिये कुछ नहीं करना है, सामग्रीके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; मेरा देश, काल आदिसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है; केवल मनुष्य होनेके नाते जो कर्तव्य प्राप्त हुआ है, उसको कर देना है—ऐसा भाव

होनेसे कर्ता फलाकाङ्क्षी नहीं होगा और कर्मोंका फल कर्ताको बाँधेगा नहीं अर्थात् यज्ञकी क्रिया और यज्ञके फलके साथ कर्ताका सम्बन्ध नहीं होगा। गीता कहती है—'**कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।**' (५ । ११) अर्थात् करण (शरीर, इन्द्रियाँ आदि), उपकरण (यज्ञ करनेमें उपयोगी सामग्री) और अधिकरण (स्थान) आदि किसीके भी साथ हमारा सम्बन्ध न हो।

यज्ञकी क्रियाका भी आरम्भ होता है और समाप्ति होती है, ऐसे ही उसके फलका भी आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। तात्पर्य यह कि क्रिया और फल दोनों उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले हैं और स्वयं (आत्मा) नित्य-निरन्तर रहनेवाला है; परंतु यह (स्वयं) क्रिया और फलके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। इस माने हुए सम्बन्धको यह जबतक नहीं छोड़ता, तबतक यह जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा रहता है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५ । १२)।

गीतामें एक विलक्षण बात है कि इसका जो सत्त्वगुण है, वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माकी तरफ ले जानेवाला होनेसे 'सत्' अर्थात् निर्गुण हो जाता है।* दैवी-सम्पत्तिमें भी जितने

* श्रीमद्भागवतमें एकादशस्कन्धके पचीसवें अध्यायमें जहाँ तामस, राजस और सात्त्विक—इन तीन गुणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ उनके साथ एक निर्गुण और कहा है। परंतु गीतामें तीन ही गुण कहे गये हैं। जब दोनोंके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, तो फिर ऐसा भेद क्यों?

गीताका जो सात्त्विक भाव है, उसमें भगवान्‌ने 'यष्टव्यम्' (१७ । ११), 'दातव्यम्' (१७ । २०), 'कार्यमित्येव' (१८ । ९) आदि पद कहे हैं। इन्हें कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस कर्ताका 'यज्ञ करना मात्र,

गुण हैं, वे सात्त्विक ही हैं। परंतु दैवी-सम्पत्तिवाला तभी परमात्माको प्राप्त होगा, जब वह सत्त्वगुणसे ऊपर उठ जायगा अर्थात् जब गुणोंके सङ्गसे सर्वथा रहित हो जायगा।

दान देनामात्र और कर्तव्य करनामात्र' उद्देश्य रहता है, उसका कर्म और कर्मफलके साथ प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् सात्त्विक यज्ञ, दान आदि 'निर्गुण' हो जाते हैं।

भगवान्‌ने कहा है कि निष्कामभावसे किये गये कर्मोंका नाश नहीं होता और उनका थोड़ा-सा भी आचरण जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा करता है (२ । ४०)। ऐसे ही सत्रहवें अध्यायके अन्तमें परमात्माके तीन नामों 'ॐ, तत्, सत्' के वर्णनमें 'सत्' शब्दकी व्याख्या करते हुए भगवान्‌ने बताया कि उस परमात्माके निमित्त जितने कर्म किये जाते हैं, वे सभी 'सत्' (निर्गुण) हो जाते हैं—'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते' (१७ । २७)। तात्पर्य यह कि कर्मयोगीका कर्म और कर्मफलके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे और भक्तियोगीके कर्मोंका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जुड़नेसे उनके सभी कर्म 'निर्गुण' हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों ही बातें एकहीमें आ जानेसे गीतामें निर्गुणका अलग वर्णन नहीं आया है।

गीतामें जहाँ सत्त्वगुणको निर्गुण बताया है, वहाँ सत्त्वगुणसे बन्धन होनेकी बात भी आयी है (१४ । ५-६) और सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं। (१४ । १८)। इसका तात्पर्य यह है कि बन्धन सत्त्वगुणसे नहीं होता, प्रत्युत् उसका सङ्ग करनेसे ही बन्धन होता है—'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥' (१४ । ६) और 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥' (१३ । २१)। ऐसे ही 'सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति मानना 'सत्त्वस्थाः' (१४ । १८) भी बन्धनकारक है।

श्लोक—

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥

व्याख्या—

'अभिसन्धाय तु फलम्'—फल अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिकी कामना रखकर जो यज्ञ किया जाता है, वह [रा]जस हो जाता है।

इस लोकमें हमें धन-वैभव मिले; स्त्री-पुत्र, परिवार अच्छा मिले, [नौकर]-चाकर, गाय-भैंस आदि भी हमारे अनुकूल मिलें; हमारा शरीर [न]ीरोग रहे; हमारा आदर-सत्कार, मान-बड़ाई, प्रसिद्धि हो जाय तथा [म]रनेके बाद भी हमें स्वर्गादि लोकोंके दिव्य भोग मिलें आदि इष्टकी [प्र]ाप्तिकी कामनाएँ हैं।

हमारे वैरी नष्ट हो जायँ; संसारमें हमारा अपमान, बेइज्जती, तिरस्कार आदि कभी न हो; हमारे प्रतिकूल परिस्थिति कभी आये ही नहीं आदि अनिष्टकी निवृत्तिकी कामनाएँ हैं।

'दम्भार्थमपि चैव यत्'—लोग हमें भीतरसे सद्गुणी, सदाचारी, संयमी, तपस्वी, दानी, धर्मात्मा, याज्ञिक आदि समझें, जिससे संसारमें हमारी प्रसिद्धि हो जाय—ऐसे दिखावटीपनेको लेकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस कहलाता है। इस प्रकारके दिखावटी यज्ञ करनेवालोंमें **'यक्ष्ये दास्यामि'** (१६ । १५) और **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते'** (१६ । १७) आदि सभी बातें विशेषतासे आ जायँगी।

'इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्'—इस प्रकार फलकी कामना और दम्भ (दिखावटीपन) को लेकर जो यज्ञ किया जायगा, वह राजस हो जाता है।

जो यज्ञ कामनापूर्तिके लिये किया जाता है, उसमें शास्त्रविधिकी मुख्यता रहती है। कारण कि यज्ञकी विधि और क्रियामें यदि किसी प्रकारकी कमी रहेगी, तो उससे प्राप्त होनेवाले फलमें भी कमी आ जायगी। इसी प्रकार यदि यज्ञकी विधि और क्रियामें विपरीत बात आ जायगी, तो उसका फल भी विपरीत हो जायगा अर्थात् सिद्धि न देकर उल्टे यज्ञकर्ताके लिये घातक हो जायगा।

परंतु जो यज्ञ केवल दिखावटीपनके लिये किया जाता है, उसमें शास्त्रविधिकी परवाह नहीं होती।

श्लोक—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

व्याख्या—

'विधिहीनम्'—अलग-अलग यज्ञोंकी अलग-अलग विधियाँ होती हैं और उसके अनुसार यज्ञकुण्ड, स्रुवा आदि पात्र, बैठनेकी दिशा, आसन आदिका विचार होता है। अलग-अलग देवताओंकी अलग-अलग सामग्री होती है; जैसे देवीके यज्ञमें लाल वस्त्र और लाल सामग्री होती है। परंतु तामस यज्ञमें इन विधियोंका पालन नहीं होता, प्रत्युत उपेक्षापूर्वक विधिका त्याग होता है।

'असृष्टान्नम्'—अग्निमें आहुति देने और ब्राह्मणादिको अन्न देनेसे ही यज्ञकी पूर्ति होती है। परंतु तामस यज्ञमें अन्न-दान नहीं

दिया जाता । तामस पुरुषोंका इस विषयमें यह भाव रहता है कि अन्न, घी, जौ, चावल, नारियल, छुहारा आदि तो मनुष्यके निर्वाहके कामकी चीजें हैं । ऐसी चीजोंको अग्निमें फूँक देना कितनी मूर्खता है ! परंतु वे लोग इस बातको नहीं समझते कि खेतमें हल चलानेवाला अनाजके बढ़िया-बढ़िया बीजोंको मिट्टीमें मिला देता है, तो खेती होनेपर उन बीजोंसे कई गुणा अधिक अनाज पैदा हो जाता है; फिर शास्त्रीय मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक वस्तुओंका हवन करना क्या निरर्थक जायगा ? मिट्टीमें मिलाया हुआ बीज तो आधिभौतिक है; क्योंकि पृथ्वी जड़ है और शास्त्रविधिसहित अग्निमें दी गयी आहुति आधिदैविक है; क्योंकि देवता चेतन हैं । अतः उन देवताओंके लिये दी गयी आहुति वर्षाके रूपमें बहुत बड़ा काम करती है । मनुजीने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा ॥

अर्थात् अग्निमें डाली हुई आहुति आदित्यकी किरणोंको पुष्ट करती है और उन पुष्ट हुई किरणोंसे वर्षा होती है (इस बातको भौतिक वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं) ।

मात्रजीव अन्नसे पैदा होते हैं और अन्न जलसे पैदा होता है—'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।' (गीता ३ । १४) अतः सृष्टिमें जल ही प्रधान है । जलमें 'यज्ञ' ही खास हेतु है—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यो' (३ । १४) ।

'मन्त्रहीनम्' वेदोंमें और वेदानुकूल शास्त्रोंमें कहे हुए मन्त्रोंसे ही यज्ञ किया जाता है । परंतु तामस यज्ञमें वैदिक तथा शास्त्रीय

मन्त्रोंसे यज्ञ नहीं किया जाता। कारण कि तामस पुरुषोंका यह भाव रहता है कि आहुति देनेमात्रसे यज्ञ हो जाता है, सुगन्ध हो जाती है, गंदे परमाणु नष्ट हो जाते हैं, फिर मन्त्रोंकी क्या जरूरत है? आदि।

'अदक्षिणम्'—तामस यज्ञमें दान नहीं किया जाता। कारण कि तामस पुरुषोंका यह भाव रहता है कि हमने यज्ञमें आहुति दे दी और ब्राह्मणोंको अच्छी तरहसे भोजन भी करा दिया, अब उनको दक्षिणा देनेकी क्या जरूरत रही? यदि हम उनको दक्षिणा देंगे तो वे आलसी हो जायँगे, पुरुषार्थहीन हो जायँगे, जिससे दुनियामें बेकारी फैलेगी; दूसरी बात, जिन ब्राह्मणोंको दक्षिणा मिलती है, वे कुछ कमाते ही नहीं, इस वास्ते वे पृथ्वीपर भाररूप रहते हैं इत्यादि।

'श्रद्धाविरहितम्'—उनकी शास्त्रोंपर, शास्त्रोक्त मन्त्रोंपर और उनमें बतायी हुई विधियोंपर तथा शास्त्रोक्त विधिपूर्वक की गयी यज्ञकी क्रियापर और उसके पारलौकिक फलपर भी श्रद्धा नहीं होती—विश्वास नहीं होता। कारण कि उनमें मूढ़ता होती है। उनमें अपनी तो अक्ल होती नहीं और दूसरा कोई समझा दे तो उसे मानते नहीं। ऐसे पुरुषोंके विषयमें गोस्वामीजीने कलियुग-वर्णनके आरम्भमें लिखा है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
(मानस ७। ९७। १)

इस तामस यज्ञमें 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः' (गीता १६। २३) और 'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च

(गीता १७ । २८)—ये दोनों भाव होते हैं । अतः वे इहलोक और परलोकका जो फल चाहते हैं, वह उनको नहीं मिलता—'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्', 'न च तत्प्रेत्य नो इह ।' तात्पर्य यह कि उनको उपेक्षापूर्वक किये गये शुभ-कर्मोंका फल तो नहीं मिलेगा, पर अशुभ कर्मोंका फल (अधोगति) तो मिलेगा ही—'अधो गच्छन्ति तामसाः' (१४ । ८) कारण कि अशुभ-फलमें अश्रद्धा ही हेतु है, और वे अश्रद्धापूर्वक ही शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं; अतः इसका दण्ड तो उनको मिलेगा ही ।

इन यज्ञोंमें कर्ता, ज्ञान, क्रिया, धृति, बुद्धि, सङ्ग, शास्त्र, खान-पान आदि सात्त्विक होंगे, तो वह यज्ञ सात्त्विक हो जायगा; यदि राजस होंगे, तो वह यज्ञ राजस हो जायगा; और यदि तामस होंगे, तो वह यज्ञ तामस हो जायगा ।

सम्बन्ध—

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञका वर्णन करके अब अगले तीन श्लोकोंमें क्रमशः शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका वर्णन करते हैं (जिसका सात्त्विक, राजस और तामस-भेद आगे करेंगे) ।

श्लोक—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

व्याख्या—

'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'—यहाँ 'देव' शब्द मुख्यरूपसे

जिनसे हमें शिक्षा प्राप्त होती है, ऐसे हमारे माता-पिता, बड़े-बूढ़े, कुलके आचार्य, पढ़ानेवाले अध्यापक और आश्रम, अवस्था, विद्या आदिमें जो हमसे बड़े हैं, उन सभीको 'गुरु' शब्दके अन्तर्गत समझना चाहिये ।

द्विज (ब्राह्मण) एवं अपने माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना और उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना तथा पत्र-पुष्प, आरती आदिसे उनकी पूजा करना—यह सब उनका पूजन है ।

यहाँ 'प्राज्ञ' शब्द जीवन्मुक्त महापुरुषके लिये आया है । यहाँ 'प्राज्ञ' शब्दको अलग लेनेका तात्पर्य यह है कि यदि वह वर्ण और आश्रममें ऊँचा होता, तो 'द्विज' पदमें आ जाता और यदि शरीरके सम्बन्धमें (जन्म और विद्यासे) बड़ा होता, तो 'गुरु' पदमें आ जाता । इसलिये जो वर्ण और आश्रममें ऊँचा नहीं है एवं जिसके साथ गुरुका सम्बन्ध भी नहीं है—ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषको यहाँ 'प्राज्ञ' कहा गया है । ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषके वचनोंका, सिद्धान्तोंका आदर करते हुए उनके अनुसार अपना जीवन बनाना ही वास्तवमें उनका पूजन है । वास्तवमें देखा जाय तो द्विज और गुरु तो सांसारिक दृष्टिसे आदरणीय हैं, पूजनीय हैं; परंतु प्राज्ञ (जीवन्मुक्त) तो आध्यात्मिक दृष्टिसे आदरणीय—पूजनीय हैं । अतः जीवन्मुक्तका हृदयसे आदर करना चाहिये; क्योंकि केवल बाहरी (बाह्य दृष्टिसे) आदर ही आदर नहीं है, प्रत्युत हृदयका आदर ही वास्तविक आदर है, पूजन है ।

'शौचम्'—जल, मृत्तिका आदिसे शरीरको पवित्र बनानेका नाम 'शौच' है। शारीरिक शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (योगदर्शन २। ४०)

शौचसे अपने शरीरमें घृणा होगी कि हम इस शरीरको रात-दिन इतना साफ करते हैं, फिर भी इससे मल, मूत्र, पसीना, नाकका कफ, आँख और कानकी मैल, लार, थूक आदि निकलते ही रहते हैं। यह शरीर हड्डी, मांस, मज्जा आदि घृणित (अपवित्र) चीजोंका बना हुआ है। इस हड्डी-मांसके थैलेमें तोलाभर भी कोई शुद्ध, पवित्र, निर्मल और सुगन्धयुक्त वस्तु नहीं है। यह केवल गंदगीका पात्र है। इसमें कोरी मलिनता-ही-मलिनता भरी पड़ी है। यह केवल मल-मूत्र पैदा करनेकी एक फैक्टरी है, मशीन है। इस प्रकार शरीरकी अशुद्धि, मलिनताका ज्ञान होनेसे मनुष्य शरीरसे ऊँचा उठ जाता है। शरीरसे ऊँचा उठनेपर उसको वर्ण, आश्रम, अवस्था आदिको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अभिमान नहीं होगा। इन्हीं बातोंके लिये शौच रखा जाता है।

आजकल प्रायः लोग कहते हैं कि जो शौचाचार रखते हैं, वे तो दूसरोंका अपमान करते हैं, घृणा करते हैं। उनका ऐसा कहना बिल्कुल गलत है; क्योंकि शौचका फल यह नहीं बताया गया कि तुम दूसरोंका तिरस्कार करो, प्रत्युत यह बताया गया कि इससे दूसरोंके साथ संसर्ग नहीं होगा—'परैरसंसर्गः'। तात्पर्य यह कि शरीरमात्रसे ग्लानि हो जायगी कि ये सब पुतले ऐसे ही अशुद्ध हैं। जैसे, मिट्टीके ढेलेको जलसे धोते चले जायँ, तो अन्तमें वह

सब (गलकर) समाप्त हो जायगा, पर उसमें मिट्टीके सिवाय कोई बढ़िया चीज नहीं मिलेगी; ऐसे ही शरीरको कितना ही शुद्ध करते रहें, पर वह कभी शुद्ध होगा नहीं; क्योंकि इसके मूलमें ही अशुद्धि है—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥
(योगदर्शन २ । ५का व्यास-भाष्य)

'विद्वान् लोग शरीरको स्थान (माताके उदरमें स्थित), बीज (माता-पिताके रजोवीर्यसे उद्भूत), उपष्टम्भ (खाये-पीये हुए आहारके रससे परिपुष्ट), निःस्यन्द (मल, मूत्र, थूक, लार, स्वेद आदि स्रावसे युक्त), निधन (मरणधर्मा) और आधेय शौच (जल-मृत्तिका आदिसे प्रक्षालित करनेयोग्य) होनेके कारण अपवित्र मानते हैं ।'

'आर्जवम्'—शरीरकी ऐंठ-अकड़का त्याग करके उठने, बैठने आदि शारीरिक क्रियाओंको सीधी-सरलतासे करनेका नाम 'आर्जव' है । अभिमान अधिक होनेसे ही शरीरमें टेढ़ापन आता है । अतः जो अपना कल्याण चाहता है, ऐसे साधकको अपनेमें अभिमान नहीं रखना चाहिये । निरभिमानता होनेसे शरीरमें और शरीरकी चलने, उठने, बैठने, बोलने, देखने आदि सभी क्रियाओंमें स्वाभाविक ही सरलता आ जाती है, जो 'आर्जव' है ।

'ब्रह्मचर्यम्'—ये आठ क्रियाएँ ब्रह्मचर्यको भंग करनेवाली हैं—(१) पहले कभी स्त्रीसङ्ग किया है, उसको याद करना,

भङ्ग माना गया है। कारण कि ब्रह्मचर्यका भावोंके साथ सम्बन्ध है। इस वास्ते ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको चाहिये कि अपने भाव शुद्ध रखनेके लिये वे अपने मनको परस्त्रीकी तरफ कभी जाने ही न दें। सावधानी रखनेपर कभी मन चला भी जाय, तो भीतरमें यह दृढ़ विचार रखे कि यह हमारा काम नहीं है, हम ऐसा काम करेंगे ही नहीं; क्योंकि मेरा ब्रह्मचर्य-पालन करनेका पक्का विचार है; मैं ऐसा काम कैसे कर सकता हूँ ?

'अहिंसा'—सभी प्रकारकी हिंसाका अभाव अहिंसा है। हिंसा स्वार्थ, क्रोध, लोभ और मोह-मूढ़ताको लेकर होती है। जैसे, अपने स्वार्थमें आकर किसीका धन दबा लिया, दूसरोंका नुकसान करा दिया—यह 'स्वार्थ' को लेकर हिंसा है। क्रोधमें आकर किसीको थोड़ी चोट पहुँचायी, ज्यादा चोट पहुँचायी अथवा खत्म ही कर दिया—यह 'क्रोध' को लेकर हिंसा है। चमड़ा मिलेगा, मांस मिलेगा, इसके लिये किसी पशुको मार दिया, और धनके कारण किसीको मार दिया—यह 'लोभ'को लेकर हिंसा है। रास्तेपर चलते-चलते किसी कुत्तेको लाठी मार दी, वृक्षकी डाली तोड़ दी, किसी घासको ही तोड़ दिया, किसीको ठोकर मार दी, तो इसमें न क्रोध है, न लोभ है और न कुछ मिलनेकी सम्भावना ही है—यह 'मोह' (मूढ़ता) को लेकर हिंसा है। अहिंसामें इन सभी हिंसाओंका अभाव है*।

---

* यहाँ 'अहिंसा' शारीरिक तपके अन्तर्गत आयी है, इसलिये यहाँ शरीर-सम्बन्धी अहिंसा ही ली जायगी, मन-वाणीकी अहिंसा नहीं ली जायगी।

'शारीरं तप उच्यते'—देव आदिका पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह पाँच प्रकारका 'शारीरिक तप' कहा गया है। इस शारीरिक तपमें तीर्थ, व्रत, संयम आदि भी ले लेने चाहिये।

कष्ट उठाना पड़ता है, तपन होती है, तब वह तप होता है; परंतु उपर्युक्त शारीरिक तपमें तो ऐसी कोई बात नहीं है, तो यह तप किस प्रकार हुआ ? कष्ट उठाकर जो तप किया जाता है, वह वास्तवमें श्रेष्ठ कोटिका तप नहीं है। तपमें कष्टकी मुख्यता रखनेवालोंको भगवान्‌ने 'आसुरनिश्चयान्' (१७ । ६)—आसुर निश्चयवाले बताया है। तप तो वही श्रेष्ठ है, जिसमें उच्छृङ्खल वृत्तियोंको रोककर शास्त्र, कुल-परम्परा और लोक-परम्पराकी मर्यादाके अनुसार संयमपूर्वक चलना होता है। ऐसे ही साधन करते हुए स्वाभाविक ही देश, काल, परिस्थिति, घटना आदि अपने विपरीत आ जायँ, तो उनको साधन-सिद्धिके लिये प्रसन्नतापूर्वक सहना भी तप है। इस तपमें शरीर, इन्द्रिय, मन आदिका संयम होता है।

अष्टाङ्गयोगमें जहाँ यम-नियमादि आठ अङ्गोंका वर्णन किया गया है*, वहाँ 'यम' को सबसे पहले बताया है। यद्यपि पाँच ही 'यम' हैं—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (योगदर्शन २ । ३०) और पाँच ही 'नियम' हैं—'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (योगदर्शन २ । ३२), तथापि इन दोनोंमेंसे नियमकी अपेक्षा यमकी ज्यादा महिमा है। कारण कि

* यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।
(पातञ्जलयोगदर्शन २ । २९)

'नियम' में व्रतोंका पालन करना पड़ता है, और 'यम'में इन्द्रियों, मन आदिका संयम करना पड़ता है।*

लोगोंकी दृष्टिमें यह बात हो सकती है कि शरीरको कष्ट देना तप है और आरामसे रहकर संयम करना, त्याग करना तप नहीं है; परंतु वास्तवमें देखा जाय तो समस्त सांसारिक विषयोंमें अनासक्त होकर जो संयम, त्याग किया जाता है, वह तपसे कम नहीं है, प्रत्युत पारमार्थिक मार्गमें उसीका ऊँचा दर्जा है। कारण कि त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति होती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'। (गीता १२। १२)। केवल बाहरी तपसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं बतायी गयी है; किंतु अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण होनेसे तप परमात्मप्राप्तिमें सहायक हो सकता है। इस वास्ते साधकको मुख्यरूपसे यमोंका सेवन करते हुए समय-समयपर नियमोंका भी पालन करते रहना चाहिये।

श्लोक—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

व्याख्या—

इस श्लोकमें वाणी-सम्बन्धी तपकी छः बातें आयी हैं—(१) अनुद्वेगकर, (२) सत्य, (३) प्रिय, (४) हित, (५) स्वाध्याय और (६) अभ्यसन। इनमें पहली चार बातें व्यवहारमें बोलनेकी सावधानी रखनेके लिये आयी हैं, जो कि 'वाक्य'की विशेषण हैं

* हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण आदि राक्षसोंमें भी 'नियम' तो मिलते हैं, पर उनमें 'यम' नहीं मिलते।

और दूसरी दो बातें स्वयंके अनुष्ठान करनेके लिये आयी हैं, जो कि 'तप' की विशेषण हैं।

'अनुद्वेगकरं वाक्यम्'—जो वाक्य वर्तमानमें और भविष्यमें भी किसीमें कभी भी उद्वेग, विक्षेप और हलचल पैदा करनेवाला न हो वह 'अनुद्वेगकर वाक्य' कहा जाता है।

'सत्यं प्रियहितं च यत्'—जैसा पढ़ा, सुना, देखा और निश्चय किया गया हो, उसको वैसा-का-वैसा ही अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंको समझानेके लिये कह देना 'सत्य' है।*

जो क्रूरता, रूखेपन, तीखेपन, ताने, निन्दा-चुगली और अपमानकारक शब्दोंसे रहित हो और जो प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त वचनोंसे कहा जाय, वह वाक्य 'प्रिय' कहलाता है।†

---

* सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

'मनुष्यको सत्य बोलना चाहिये और प्रिय बोलना चाहिये। उसमें भी सत्य हो, पर अप्रिय न हो और प्रिय हो, पर असत्य न हो—यही सनातन धर्म है।

† प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥

'प्रिय वाक्य बोलनेसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सम्पूर्ण प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं, इसलिये मनुष्यको प्रिय वाक्य ही बोलना चाहिये। बोलनेमें दरिद्रता—कंजूसी किस बातकी?'

जो हिंसा, डाह, द्वेष, वैर आदिसे सर्वथा रहित हो और प्रेम, दया, क्षमा, उदारता, मङ्गल आदिसे भरा हो, तथा जो वर्तमानमें और भविष्यमें भी अपना और दूसरे किसीका अनिष्ट करनेवाला न हो, वह वाक्य 'हित' (हितकर) कहलाता है।

'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव'—पारमार्थिक उन्नतिमें सहायक गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंको स्वयं पढ़ना और दूसरोंको पढ़ाना, भगवान् तथा भक्तोंके चरित्रोंको पढ़ना आदि **'स्वाध्याय'** है।

गीता आदि पारमार्थिक ग्रन्थोंकी बार-बार आवृत्ति करना, उन्हें कण्ठस्थ करना, भगवन्नामका जप करना, भगवान्‌की बार-बार स्तुति-प्रार्थना करना आदि **'अभ्यसन'** है।

'च एव'—इन दो अव्यय पदोंसे वाणी-सम्बन्धी तपकी अन्य बातोंको भी ले लेना चाहिये; जैसे—दूसरोंकी निन्दा न करना, दूसरोंके दोषोंको न कहना, वृथा बकवाद न करना अर्थात् जिससे अपना तथा दूसरोंका कोई लौकिक या पारमार्थिक हित सिद्ध न हो—ऐसे वचन न बोलना, पारमार्थिक साधनमें बाधा डालनेवाले तथा शृङ्गार-रसके काव्य, नाटक, उपन्यास आदि न पढ़ना अर्थात् जिनसे काम, क्रोध, लोभ आदिको सहायता मिले—ऐसी पुस्तकोंको न पढ़ना आदि-आदि।

'वाङ्मयं तप उच्यते'—उपर्युक्त सभी लक्षण जिसमें होते हैं, वह वाणीसे होनेवाला तप कहलाता है।

श्लोक—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

व्याख्या—

'मनःप्रसादः'—मनकी प्रसन्नताको 'मनःप्रसाद' कहते हैं। वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, परिस्थिति, घटना आदिके संयोगसे पैदा होनेवाली प्रसन्नता स्थायीरूपसे हरदम नहीं रह सकती; क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, वह वस्तु स्थायी रहनेवाली नहीं होती। परंतु दुर्गुण-दुराचारोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जो स्थायी तथा स्वाभाविक प्रसन्नता प्रकट होती है, वह हरदम रहती है और वही प्रसन्नता मन, बुद्धि आदिमें आती है, जिससे मनमें कभी अशान्ति होती ही नहीं अर्थात् मन हरदम प्रसन्न रहता है।

मनमें अशान्ति, हलचल आदि कब होते हैं? जब मनुष्य धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि नाशवान् चीजोंका सहारा ले लेता है। जिनका सहारा उसने ले रखा है, वे सब चीजें आने-जानेवाली हैं, स्थायी रहनेवाली नहीं हैं। अतः उनके संयोग-वियोगसे उसके मनमें हलचल आदि होती है। यदि साधक न रहनेवाली चीजोंका सहारा छोड़कर नित्य-निरन्तर रहनेवाले प्रभुका सहारा ले ले, तो फिर पदार्थ, व्यक्ति आदिके संयोग-वियोगको लेकर उसके मनमें कभी अशान्ति, हलचल नहीं होगी।

मनकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके उपाय ये हैं—

(१) सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, देश, काल, घटना आदिको लेकर मनमें राग और द्वेष पैदा न होने दें।

(२) अपने स्वार्थ और अभिमानको लेकर किसीसे न करें।

(३) मनको सदा दया, क्षमा, उदारता आदि भावोंसे परिपूर्ण रखें।

(४) मनमें प्राणिमात्रके हितका भाव हो।

(५) हितपरमितभोजी नित्यमेकान्तसेवी
सकृदुचितहितोक्तिः स्वल्पनिद्राविहारः।
अनुनियमनशीलो यो भजत्युक्तकाले
स लभत इव शीघ्रं साधुचित्तप्रसादम्॥
(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ३७२)

'जो शरीरके लिये हितकारक एवं नियमित भोजन करनेवाला है, सदा एकान्तमें रहनेके स्वभाववाला है। किसीके पूछनेपर कभी कोई हितकी उचित बात कह देता है अर्थात् बहुत ही कम मात्रामें बोलता है, जो सोना और घूमना बहुत कम करनेवाला है। इस प्रकार जो शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार खान-पान-विहार आदिका सेवन करनेवाला है, वह साधक बहुत ही जल्दी चित्तकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है।'

—इन उपायोंसे मन सदा प्रसन्न रहेगा।

'सौम्यत्वम्'—हृदयमें हिंसा, क्रूरता, कुटिलता, असहिष्णु द्वेष आदि भावोंके न रहनेसे एवं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, दयालु सर्वव्यापकता आदिपर अटल विश्वास होनेसे साधकके मनमें स्वाभा ही 'सौम्यभाव' रहता है। फिर उसको कोई टेढ़ा वचन कह उसका तिरस्कार कर दे, उसपर बिना कारण दोषारोपण करे, साथ कोई वैर-द्वेष रखे अथवा उसके धन, मान, महिमा अ हानि हो जाय, तो भी उसके सौम्यभावमें कुछ भी फरक नहीं प

'मौनम्'—अनुकूलता-प्रतिकूलता, संयोग-वियोग, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको लेकर मनमें हलचलका न होना ही वास्तवमें 'मौन' है।*

शास्त्रों, पुराणों और सन्त-महापुरुषोंकी वाणियोंका तथा उनके गहरे भावोंका मनन होता रहे; गीता, रामायण, भागवत आदि भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थोंमें कहे हुए भगवान्‌के गुणोंका, चरित्रोंका सदा मनन होता रहे; संसारके प्राणी किस प्रकार सुखी हो सकते हैं ? सबका कल्याण किन-किन उपायोंसे हो सकता है ? किन-किन सरल युक्तियोंसे हो सकता है ? उन-उन उपायोंका और युक्तियोंका मनमें हरदम मनन होता रहे—ये सभी 'मौन' शब्दसे कहे जा सकते हैं।

'आत्मविनिग्रहः'—मन बिल्कुल एकाग्र हो जाय और तैलधारावत् एक ही चिन्तन करता रहे—इसको भी मनका निग्रह

* यहाँ 'मौनम्' पद वाणीके मौन (चुप रहने) का वाचक नहीं है। यदि यह वाणीके मौनका वाचक होता, तो इसे वाणी-सम्बन्धी तपमें देते। परंतु यहाँ 'मौन' शब्द मानसिक तपके अन्तर्गत आया है।

गीतामें प्रायः यह देखा जाता है कि जहाँ अर्जुनका क्रियापरक प्रश्न है, वहाँ भगवान् भावपरक उत्तर देते हैं। जैसे दूसरे अध्यायके चौवनवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' 'स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है ?' तो भगवान्‌ने उसका उत्तर दिया—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः······स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥' अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर जिसके मनमें हर्ष-शोक नहीं होते, वह स्थितप्रज्ञ 'मुनि' (मौनी) है। तात्पर्य यह कि भगवान् क्रियाकी अपेक्षा भावको श्रेष्ठ मानते हैं। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ भी 'मौन'को मानसिक तपमें लिया है।

कहते हैं; परंतु मनका सच्चा निग्रह यही है कि मन साधकके वशमें रहे अर्थात् मनको जहाँसे हटाना चाहें वहाँसे हट जाय, और जहाँ जितनी देर लगाना चाहें, वहाँ उतनी देर लगा रहे। तात्पर्य यह कि साधक मनके वशीभूत होकर काम नहीं करे, प्रत्युत मन ही उसके वशीभूत होकर काम करता रहे। इस प्रकार मनका वशीभूत होना ही वास्तवमें 'आत्मविनिग्रह' है।

'भावसंशुद्धिः'—जिस भावमें अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग हो और दूसरोंकी हितकारिता हो, उसे 'भावसंशुद्धि' अर्थात् भावकी महान् पवित्रता कहते हैं।

जिसके भीतर एक भगवान्‌का ही आसरा, भरोसा है, एक भगवान्‌का ही चिन्तन है, और भगवान्‌की तरफ चलनेका एक ही निश्चय है, उसके भीतरके भाव बहुत जल्दी शुद्ध हो जाते हैं। फिर उसके भीतर उत्पत्ति-विनाशशील सांसारिक वस्तुओंका सहारा नहीं रहता; क्योंकि संसारका सहारा रखनेसे ही भाव अशुद्ध होते हैं।

'इत्येतत्तपो मानसमुच्यते'—इस प्रकार जिस तपमें मनकी मुख्यता होती है, वह मानस—मनसम्बन्धी तप कहलाता है।

सम्बन्ध—

अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस तपका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७॥

व्याख्या—

'श्रद्धया परया तप्तं तपः'—शरीर, वाणी और मनके द्वारा जो तप किया जाता है, वह तप ही मनुष्योंका सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है और यही मानव-जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिका अचूक उपाय है* तथा इसको साङ्गोपाङ्ग—अच्छी तरहसे करनेपर मनुष्यके लिये कुछ करना बाकी नहीं रहता अर्थात् जो वास्तविक तत्त्व है, उसमें स्वतः स्थिति हो जाती है—ऐसे अटल विश्वास-पूर्वक श्रेष्ठ श्रद्धा करके बड़े-बड़े विघ्न और बाधाओंकी कुछ भी परवाह न करते हुए उत्साह एवं आदरपूर्वक तपका आचरण करना ही परम श्रद्धासे उस तपको करना है।

'त्रिविधम्'—यहाँ केवल सात्त्विक तपमें 'त्रिविध' पद दिया है और राजस तथा तामस तपमें 'त्रिविध' पद न देकर 'यत्-तत्' पद देकर ही काम चलाया है। इसका आशय यह है कि शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों तप केवल सात्त्विकमें ही साङ्गोपाङ्ग आ सकते हैं। राजस तथा तामसमें तो आंशिकरूपसे ही आ सकते हैं। इसमें भी राजसमें कुछ अधिक लक्षण आ जायँगे; क्योंकि राजस पुरुषका शास्त्रविधिकी तरफ खयाल रहता है; परंतु तामसमें तो उन तपोंके बहुत ही कम लक्षण आ सकते हैं; क्योंकि तामस पुरुषमें मूढ़ता, दूसरोंको कष्ट देना आदि दोष रहते हैं।

* शरीर, वाणी और मनका तप साङ्गोपाङ्ग करनेसे तभी सम्पन्न

दूसरी बात, तेरहवें अध्यायमें सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक जो ज्ञानके बीस साधनोंका वर्णन आया है, उनमें भी शारीरिक तपके तीन लक्षण—शौच, आर्जव और अहिंसा तथा मानसिक तपके दो लक्षण—मौन और आत्मविनिग्रह आये हैं। ऐसे ही सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जो दैवी-सम्पत्तिके छब्बीस लक्षण बताये गये हैं, उनमें भी शारीरिक तपके तीन लक्षण—शौच, अहिंसा और आर्जव तथा वाचिक तपके दो लक्षण—सत्य और स्वाध्याय आये हैं। अतः ज्ञानके जिन साधनोंसे तत्त्वबोध हो जाय तथा दैवी-सम्पत्तिके जिन गुणोंसे मुक्ति हो जाय, वे लक्षण या गुण राजस-तामस नहीं हो सकते। इस वास्ते राजस और तामस तपमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक—यह तीनों प्रकारका तप साङ्गोपाङ्ग नहीं लिया जा सकता। वहाँ तो 'यत्-तत्' पदोंसे—आंशिक जितना-जितना आ सके, उतना-उतना ही लेना चाहिये।

तीसरी बात भगवद्गीताका आदिसे अन्ततक अध्ययन करनेपर यह असर पड़ता है कि इसका उद्देश्य केवल जीवका कल्याण करनेका है। कारण कि अर्जुनका जो प्रश्न है, वह निश्चित श्रेय (कल्याणका है—'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (२।७) 'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (३ । २) और 'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' (५ । १)। भगवान्‌ने भी उत्तरमें जितने साधन बताये हैं, वे 'सब जीवोंका निश्चित कल्याण हो जाय'—इस लक्ष्यको लेकर ही बताये हैं। इस वास्ते गीतामें जहाँ-कहीं सात्त्विक, राजस और तामसके

भेद किया गया है, वहाँ जो सात्त्विक विभाग है, वह ग्राह्य है; क्योंकि वह मुक्ति देनेवाला है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' और जो राजस-तामस विभाग है, वह त्याज्य है; क्योंकि वह बाँधनेवाला है—'निबन्धायासुरी मता'। इसी आशयसे भगवान् यहाँ सात्त्विक तपमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक—इन तीनों तपोंका लक्ष्य करानेके लिये '**त्रिविधम्**' पद देते हैं।

'**अफलाकाङ्क्षिभिः युक्तैः नरैः**'—यहाँ इन दो विशेषणों-सहित 'नरैः' पद देनेका तात्पर्य यह है कि आंशिक सद्गुण-सदाचार तो प्राणिमात्रमें रहते ही हैं; परंतु मनुष्यमें ही यह विशेषता है कि वह सद्गुण-सदाचारोंको साङ्गोपाङ्ग एवं विशेषतासे अपनेमें ला सकता है और दुर्गुण-दुराचार, कामना, मूढ़ता आदि दोषोंको सर्वथा मिटा सकता है। निष्कामभाव मनुष्योंमें ही हो सकता है।

सात्त्विक तपमें तो 'नर' शब्द दिया है; परंतु राजस-तामस तपमें मनुष्यवाचक शब्द दिया ही नहीं। तात्पर्य यह कि अपना कल्याण करनेके उद्देश्यसे मिले हुए अमूल्य शरीरको पाकर भी जो कामना, दम्भ, मूढ़ता आदि दोषोंको पकड़े हुए हैं, वे मनुष्य कहलानेके लायक ही नहीं हैं।

फलकी इच्छा न रखकर निष्कामभावसे तपका अनुष्ठान करनेवाले योगी पुरुषोंके लिये यहाँ उपर्युक्त पद आये हैं।

'**सात्त्विकं परिचक्षते**'—परम श्रद्धासे युक्त, फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंके द्वारा जो तप किया जाता है, वह सात्त्विक तप कहलाता है।

श्लोक—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

व्याख्या—

'सत्कारमानपूजार्थं तपः क्रियते'—राजस पुरुष सत्कार, मान और पूजाके लिये ही तप किया करते हैं; जैसे—हम जहाँ-कहीं जायँगे, वहाँ हमें तपस्वी समझकर लोग हमारी अगवानीके लिये सामने आयेंगे। गाँवभरमें हमारी सवारी निकालेंगे। जगह-जगह लोग हमें उत्थान देंगे, हमें बैठनेके लिये आसन देंगे, हमारे नामका जयघोष करेंगे, हमसे मीठा बोलेंगे, हमें अभिनन्दनपत्र देंगे इत्यादि बाह्य क्रियाओंद्वारा लोग हमारा 'सत्कार' करेंगे। लोग हृदयसे हमें श्रेष्ठ मानेंगे कि ये बड़े संयमी, सत्यवादी, अहिंसक सज्जन हैं, वे सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा हमारेमें विशेष भाव रखेंगे इत्यादि हृदयके भावोंसे लोग हमारा 'मान' करेंगे। जीते-जी लोग हमारे चरण धोयेंगे, हमारे मस्तकपर फूल चढ़ायेंगे, हमारे गलेमें माला पहनायेंगे, हमारी आरती उतारेंगे, प्रणाम करेंगे, हमारी चरणरजको सिरपर चढ़ायेंगे और मरनेके बाद हमारी बैकुण्ठी निकालेंगे, हमारा स्मारक बनायेंगे और लोग उसपर श्रद्धा-भक्तिसे पत्र-पुष्प, चन्दन, वस्त्र, जल आदि चढ़ायेंगे, हमारे स्मारककी परिक्रमा करेंगे इत्यादि क्रियाओंसे हमारी 'पूजा' करेंगे।

'दम्भेन चैव यत्'—भीतरसे तपपर श्रद्धा और भाव न होनेपर भी बाहरसे केवल लोगोंको दिखानेके लिये आसन लगाकर

बैठ जाना, माला घुमाने लग जाना, देवता आदिका पूजन करने लग जाना, सीधे-सरल चलना, हिंसा न करना आदि ।

'तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्'—राजस तपका फल चल और अध्रुव कहा गया है। तात्पर्य यह कि जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये किया जाता है, उस राजस तपका फल यहाँ 'चल' अर्थात् नाशवान् कहा गया है, और जो तप केवल दिखावटीपनके लिये किया जाता है, उसका फल यहाँ 'अध्रुव' अर्थात् अनिश्चित (फल मिले या न मिले, दम्भ सिद्ध हो या न हो) कहा गया है।

राजस पुरुषके द्वारा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप हो सकते हैं क्या ? फलेच्छा होनेसे वह देवता आदिका पूजन कर सकता है। उसमें कुछ सीधा-सरलपन भी रह सकता है। ब्रह्मचर्य रहना मुश्किल है। अहिंसा भी मुश्किल है। पुस्तक आदि पढ़ सकता है। उसका मन हरदम प्रसन्न नहीं रह सकता और सौम्य-भाव भी हरदम नहीं रह सकता। कामनाके कारण उसके मनमें संकल्प-विकल्प होते रहेंगे। वह केवल सत्कार, मान, पूजा और दम्भके लिये ही तप करता है, तो उसकी भावसे संशुद्धि कैसे होगी अर्थात् उसके भाव शुद्ध कैसे होंगे ? अतएव राजसी पुरुष तीन प्रकारके तपको साङ्गोपाङ्ग नहीं कर सकता।

श्लोक—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

व्याख्या—

'मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः'—तामस तपमें मूढ़तापूर्वक आग्रह होनेसे अपने-आपको पीड़ा देकर तप किया जाता है। तामस पुरुषमें मूढ़ताकी प्रधानता रहती है, अतः जिसमें शरीरको, मनको कष्ट हो, उसीको वे तप मानते हैं।

'परस्योत्सादनार्थं वा'—अथवा वे दूसरोंको दुःख देनेके लिये तप करते हैं। उनका भाव रहता है कि शक्ति प्राप्त करनेके लिये तप (संयम आदि) करनेमें मुझे भले ही कष्ट सहना पड़े, पर दूसरोंको नष्ट-भ्रष्ट तो करना ही है। तामस पुरुष दूसरोंको दुःख देनेके लिये उन तीन (कायिक, वाचिक और मानसिक) तपोंके आंशिक भागके अलावा मनमाने ढंगसे उपवास, शीत-घामको सहना आदि तप भी कर सकता है।

'तत्तामसमुदाहृतम्'—तामस पुरुषका उद्देश्य ही दूसरोंको कष्ट देनेका, उनका अनिष्ट करनेका रहता है। अतः ऐसे उद्देश्य किया गया तप तामस कहलाता है।

[सात्त्विक पुरुष फलकी इच्छा न रखकर परमश्रद्धासे करता है, इसलिये वास्तवमें वही मनुष्य कहलानेलायक है। रा पुरुष सत्कार, मान, पूजा तथा दम्भके लिये तप करता है, इस वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है; क्योंकि सत्कार, मान आ पशु-पक्षियोंको भी प्रिय लगते हैं और वे बेचारे दम्भ भी नहीं क तामस पुरुष तो पशुओंसे भी नीचे हैं; क्योंकि पशु-पक्षी स्वयं पाकर दूसरोंको दुःख तो नहीं देते, पर यह तामस पुरुष त दुःख पाकर दूसरोंको दुःख देता है।]

सम्बन्ध—

अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस दानके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

व्याख्या—

इस श्लोकमें दानके दो विभाग हैं—(१) 'दातव्यमिति यद्दानं दीयते अनुपकारिणे' और (२) 'देशे काले च पात्रे च'।

'दातव्यमिति यद्दानम्'—केवल देना ही मेरा कर्तव्य है। कारण कि मैंने वस्तुओंको स्वीकार किया है अर्थात् उन्हें अपना माना है। जिसने वस्तुओंको स्वीकार किया है, उसीपर देनेकी जिम्मेवारी होती है। अतः देनामात्र मेरा कर्तव्य है। इसका यहाँ क्या फल होगा और परलोकमें क्या फल होगा—यह भाव बिल्कुल नहीं होना चाहिये; क्योंकि 'दातव्य' का तात्पर्य ही त्यागमें है।

अब किसको दिया जाय? तो कहते हैं—'दीयतेऽनुपकारिणे' अर्थात् जिसने पहले कभी हमारा उपकार किया ही नहीं, अभी भी उपकार नहीं करता है और आगे हमारा उपकार करेगा, ऐसी सम्भावना भी नहीं है—ऐसे 'अनुपकारी' को निष्कामभावसे देना चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिसने हमारा उपकार किया है, उसको न दें, प्रत्युत जिसने हमारा उपकार किया है, उसे देनेमें दान न माने। कारण कि केवल देनेमात्रसे सच्चे उपकारका बदला नहीं चुकाया जा सकता। अतः 'उ

भी अवश्य सेवा-सहायता करनी चाहिये, पर उसको दानमें भरती नहीं करना चाहिये। उपकारकी आशा रखकर देनेसे वह दान राजसी हो जाता है।

'देशे काले च पात्रे च'*—इन पदोंके दो अर्थ होते हैं—

(१) जिस देशमें जो चीज नहीं है और उस चीजकी आवश्यकता हो, उस देशमें वह चीज देना; जिस समय जिस चीजकी आवश्यकता हो, उस समय वह चीज देना; और जिसके पास नहीं है और उसको आवश्यकता है, उस अभावग्रस्तकी सहायता करना।

(२) गङ्गा, यमुना, गोदावरी आदि नदियाँ, कुरुक्षेत्र, प्रयागराज, काशी आदि पवित्र देश प्राप्त होनेपर दान देना; अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात, अक्षय तृतीया, संक्रान्ति आदि पवित्र काल प्राप्त होनेपर दान देना; और वेदपाठी ब्राह्मण, सद्गुणी-सदाचारी भिक्षुक आदि उत्तम पात्र प्राप्त होनेपर दान देना।

'तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्'—ऐसा दिया हुआ दान सात्त्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टिकी जितनी चीजें हैं, वे सबकी हैं और सबके लिये हैं, अपनी व्यक्तिगत नहीं हैं। इस वास्ते अनुपकारी व्यक्तिको भी जिस चीज—वस्तुकी आवश्यकता हो, वह चीज उसीकी समझकर उसको देनी चाहिये। जिसके पास आपकी वस्तु पहुँचेगी, वह उसीका हक है; क्योंकि यदि उसकी वस्तु

---

* यहाँ देश, काल और पात्र—तीनोंमें 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इस सूत्रसे सप्तमी की गयी है।

नहीं है, तो आप चाहते हुए भी उसे दे सकोगे नहीं। इस वास्ते पहलेसे यह समझो कि उसकी ही वस्तु उसको देनी है, अपनी वस्तु (अपनी मानकर) उसको नहीं देनी है। तात्पर्य यह कि जो वस्तु अपनी नहीं है और अपने पास है अर्थात् उसको हमने अपनी मान रखी है, उस वस्तुको अपनी न माननेके लिये उसकी समझकर उसीको देनी है।

इस प्रकार जिस दानको देनेसे वस्तु, फल और क्रियाके साथ अपना सम्बन्ध-विच्छेद होता है, वह दान सात्त्विक कहा जाता है।

श्लोक—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

व्याख्या—

'यत्तु प्रत्युपकारार्थम्'—राजस दान प्रत्युपकारके लिये दिया जाता है; जैसे—राजस पुरुष किसी विशेष अवसरपर दानकी चीजोंको गिन करके निकालता है, तो वह विचार करता है कि हमारे सगे-सम्बन्धीके जो कुल-पुरोहित हैं उनको हम दान देंगे, जिससे कि हमारे सगे-सम्बन्धी हमारे कुल-पुरोहितको दान दें और इस प्रकार हमारे कुल-पुरोहितके पास धन आ जायगा। अमुक-अमुक पण्डितजी बड़े अच्छे हैं और ज्योतिष भी जानते हैं, उनको हम दान देंगे, जिससे वे कभी यात्राका, पुत्र तथा कन्याओंके विवाहका, नया मकान बनवानेका, कुआँ खुदवानेका मुहूर्त निकाल देंगे

हमारे सम्बन्धी हैं अथवा हमारा हित करनेवाले हैं, उनको हम सहायतारूपमें पैसे देंगे, तो वे कभी हमारी सहायता करेंगे, हमारा हित करेंगे। हमें दवाई देनेवाले जो पण्डितजी हैं, उनको हम दान देंगे; क्योंकि दानसे राजी होकर वे हमें अच्छी-अच्छी दवाइयाँ देंगे आदि-आदि। इस प्रकार प्रतिफलकी भावना रखकर अर्थात् इस लोकके साथ सम्बन्ध जोड़कर जो दान दिया जाता है, वह 'प्रत्युपकारार्थ' कहा जाता है।

'फलमुद्दिश्य वा पुनः'—फलका उद्देश्य रखकर अर्थात् परलोकके साथ सम्बन्ध जोड़कर जो दान दिया जाता है, उस दानके देनेमें भी राजसी पुरुष देश (गङ्गा, यमुना, कुरुक्षेत्र आदि), काल (अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण आदि) और पात्र (वेदपाठी ब्राह्मण आदि) को देखेगा तथा शास्त्रीय विधि-विधानको देखेगा; परंतु इस प्रकार विचारपूर्वक दान देनेपर भी फलकी कामना होनेसे वह दान राजसी हो जाता है। अत्र उसके लिये दूसरे विधि-विधानका वर्णन करनेकी भगवान्‌ने आवश्यकता नहीं समझी, इसीलिये यहाँ—राजस दानमें 'देशे काले च पात्रे' पदोंका प्रयोग नहीं किया।

'दीयते च परिक्लिष्टम्'—राजस दान बहुत क्लेशपूर्वक दिया जाता है; जैसे—वक्त आ गया है, इसीलिये देना पड़ रहा है। इतनी चीजें देंगे, तो उतनी कम हो जायँगी। इतना धन देंगे, तो उतना धन कम हो जायगा। वे समयपर हमारे काम भी आते हैं, इसलिये उनको देना पड़ रहा है। इतनेमें ही काम चल जाय, तो बहुत अच्छी बात है। इतनेसे काम तो चल ही जायगा, फिर

ज्यादा क्यों दें ? ज्यादा देंगे तो लायेंगे कहाँसे ? और ज्यादा देनेसे लेनेवालेका स्वभाव बिगड़ जायगा, जिससे देनेकी लाग लग जायगी। ज्यादा देनेसे हमारे घाटा पड़ जायगा, तो काम कैसे चलेगा ? पर इतना तो देना ही पड़ रहा है आदि-आदि। इस प्रकार राजस पुरुष दान थोड़ा-सा देते हैं, पर बलात्कारसे करके देते हैं।

'तद्दानं राजसम् स्मृतम्'—उपर्युक्त प्रकारसे दिया जानेवाला दान राजस कहा गया है।

श्लोक—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

व्याख्या—

'अदेशकाले यद्दानम्'—मूढ़ताके कारण तामस पुरुषको अपने मनकी बातें ही जँचती हैं; जैसे—दान देनेके लिये देश-कालकी क्या जरूरत है ? जब चाहे, तब दे दिया। जब किसी विशेष देश और कालमें ही पुण्य होगा, तो क्या यहाँ पुण्य नहीं होगा ? इसके लिये अमुक समय आयेगा, अमुक पर्व आयेगा—इसकी क्या आवश्यकता ? अपनी चीज खर्च करनी है, चाहे कभी दो आदि-आदि। इस प्रकार तामस पुरुष देश और कालका विचार न करके दान देते हैं।

'अपात्रेभ्यश्च दीयते'—तामस दान अपात्रको दिया जाता है। तामस पुरुष कई प्रकारके तर्क-वितर्क करके पात्रका विचार नहीं करते; जैसे—शास्त्रोंने देश, काल और पात्रकी बातें यों ही लिखी गयी हैं; यदि यहाँ दान लेगा तो क्या यहाँ उसका पेट नहीं भरेगा ?...

नहीं होगी ? जब पात्रको देनेसे पुण्य होता है, तो इनको देनेसे क्या पुण्य नहीं होगा ? क्या ये आदमी नहीं हैं ? क्या इनको देनेसे पाप लगेगा ? अपनी जीविका चलानेके लिये, अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये ही ब्राह्मणोंने ऐसे शास्त्र बना दिये हैं आदि-आदि ।

'असत्कृतमवज्ञातम्'—तामस दान असत्कार और अवज्ञापूर्वक दिया जाता है; जैसे—तामसी पुरुषके पास कभी दान लेनेके लिये ब्राह्मण आ जाय, तो वह तिरस्कारपूर्वक उसको उलाहना देगा कि देखो पण्डितजी ! जब हमारी माताका शरीर शान्त हुआ, तब भी आप नहीं आये; परंतु क्या करें ? आप हमारे घरके गुरु हो, इस वास्ते हमें देना ही पड़ता है ! इतनेमें ही घरका दूसरा आदमी बोल पड़ता है कि तुम क्यों ब्राह्मणोंके झंझटमें पड़ते हो ? किसी गरीबको दे दो । जिसको कोई नहीं देता, उसको देना चाहिये । वास्तवमें वही दान है । ब्राह्मणको तो और कोई भी दे देगा, पर बेचारे गरीबको कौन देगा ? पण्डितजी क्या आ गया, यह तो कुत्ता आ गया; टुकड़ा डाल दो, नहीं तो भौंकेगा, आदि-आदि ।

'तत्तामसमुदाहृतम्'—उपर्युक्त प्रकारसे दिया जानेवाला दान तामस कहा गया है ।

शङ्का—गीतामें तामस-कर्मका फल अधोगति बताया है—'अधो गच्छन्ति तामसाः' (१४ । १८) और रामचरितमानसमें बताया है कि जिस किसी प्रकारसे भी दिया हुआ दान कल्याण करता है—'जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान' (उत्तर० १०३ ख) । इन दोनोंमें विरोध आता है ?

समाधान—तामस अधोगतिमें जाते हैं, यह कानून दानके विषयमें लागू नहीं होता। कारण कि यहाँ भाव प्रधान है—'[illegible]' (श्रीमद्भा० १२।३।१८)। इन चारों चरणोंमेंसे कलियुगमें एक ही चरण बचा है—'दानमेकं कलौ युगे' (पद्मपुराण, सृष्टि० १८।४४०)। इसीलिये गोस्वामीजी महाराजने कहा—

> प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
> जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥
>
> (मानस, उत्तर० १०३ ख)

ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार भी दान किया जाय, उसमें वस्तु आदिके साथ अपनेपनका त्याग करना ही पड़ता है। इस दृष्टिसे तामस दानमें भी आंशिक त्याग होनेसे दान देनेवाला अधोगतिको प्राप्त नहीं हो सकता।

दूसरी बात, इस कलियुगके समय मनुष्योंका अन्तःकरण बहुत मलिन हो रहा है। इसलिये कलियुगमें एक छूट है कि जिस किसी प्रकार भी किया हुआ दान कल्याण करता है। इससे मनुष्यका दान देनेका स्वभाव तो बन ही जायगा, जो आगे कभी किसी जन्ममें कल्याण भी कर सकता है। परंतु दान देना बिलकुल ही बंद हो जायगा, तो फिर देनेका स्वभाव बननेका कोई उपाय ही शेष नहीं होगा। इसी दृष्टिसे एक संतने 'श्रद्धया देयमश्रद्धयादेयम्' इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए कहा था कि इसमें पहले पदका अर्थ तो यह है कि श्रद्धासे देना चाहिये, पर दूसरे पदका अर्थ 'अश्रद्धया अदेयम्' (अश्रद्धासे नहीं देना चाहिये), ऐसा न लेकर

देयम्' (श्रद्धा न हो, तो भी देना चाहिये)—इस प्रकार लेना चाहिये ।

[दानके विषयमें खास बातें—अन्न, जल, वस्त्र और औषध—इन चारोंके दानमें पात्र-कुपात्र आदिका विशेष विचार नहीं करना चाहिये। इनमें केवल दूसरेकी आवश्यकताको ही देखना चाहिये। इसमें भी देश, काल और पात्र मिल जाय, तो उत्तम बात और न मिले, तो कोई बात नहीं। हमें तो जो भूखा है, उसे अन्न देना है; जो प्यासा है, उसे जल देना है; जो वस्त्रहीन है, उसे वस्त्र देना है और जो रोगी है, उसे औषध देनी है, इसी प्रकार कोई किसीको अनुचितरूपसे भयभीत कर रहा है, दुःख दे रहा है, तो उससे उसको छुड़ाना और उसे अभयदान देना हमारा कर्तव्य है।

हाँ, कुपात्रको अन्न-जल इतना नहीं देना चाहिये कि जिससे वह पुनः हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त हो जाय अर्थात् कोई हिंसक मनुष्य भी अन्न-जलके बिना मर रहा है, तो उसको उतना ही अन्न-जल दे, कि जिससे उसके प्राण रह जायँ, वह जी जाय। इस प्रकार उपर्युक्त चारों दानमें पात्रता नहीं देखनी है, प्रत्युत आवश्यकता देखनी है।

भगवान्‌का भक्त भी दान देनेमें पात्र नहीं देखता, वह तो दिये जाता है; क्योंकि वह सबमें अपने प्यारे प्रभुको ही देखता है कि इस रूपमें तो हमारे प्रभु ही आये हैं। अतः वह दान नहीं देता, कर्तव्य-पालन नहीं करता, प्रत्युत पूजा करता है—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (गीता १८। ४६)। तात्पर्य यह कि भक्तकी सम्पूर्ण क्रियाओं-का सम्बन्ध भगवान्‌के साथ होता है।]

[कर्मफलके विषयमें खास बातें—ग्यारहवेंसे बाईसवें श्लोक-तकके इस प्रकरणमें भी जो सात्त्विक यज्ञ, तप और दान आये हैं, वे सब-के-सब 'दैवी-सम्पत्ति' हैं और जो राजस तथा तामस यज्ञ, तप और दान आये हैं, वे सब-के-सब 'आसुरी-सम्पत्ति' हैं ।

आसुरी-सम्पत्तिमें आये हुए 'राजस' यज्ञ, तप और दानके फलके दो विभाग हैं—दृष्ट और अदृष्ट । इनमें भी दृष्टके दो फल हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। जैसे—राजस भोजनके बाद तृप्तिका होना तात्कालिक फल है और रोग आदिका होना कालान्तरिक फल है । ऐसे ही अदृष्टके भी दो फल हैं,—लौकिक और पारलौकिक । जैसे—दम्भपूर्वक ('दम्भार्थमपि चैव यत्' १७ । १२), सत्कार-मान-पूजाके लिये ('सत्कारमानपूजार्थम्' १७ । १८) और प्रत्युपकारके लिये ('प्रत्युपकारार्थम्'१७।२१) किये गये राजस यज्ञ, तप और दानका फल 'लौकिक' है और वह इसी लोकमें, इसी जन्ममें, इसी शरीरके रहते-रहते ही मिलनेकी सम्भावनावाला होता है ।* स्वर्गको ही परम प्राप्य वस्तु मानकर उसकी प्राप्तिके लिये किये गये यज्ञ आदिका फल 'पारलौकिक'

---

* राजसके दृष्टका कालान्तरिक फल और अदृष्टका लौकिक फल—दोनों एक-जैसे दीखते हुए भी इनमें अन्तर है; जैसे—भोजनके परिणाम-स्वरूप जो रोग आदि होंगे, वह भौतिक (कालान्तरिक) फल है अर्थात् वह सीधे भोजनका ही परिणाम है और पुत्रेष्टि-यज्ञ आदिका जो फल होगा, वह आधिदैविक (लौकिक) फल है अर्थात् वह प्रारब्ध बनकर फल (पुत्रादि) के रूपमें आता है ।

होता है ।* परंतु राजस यज्ञ ('अभिसन्धाय तु फलम्' १७।१२) और दान ('फलमुद्दिश्य वा पुनः' १७ । २१) का फल लौकिक तथा पारलौकिक—दोनों ही हो सकता है । इसमें भी स्वर्गप्राप्तिके लिये यज्ञ आदि करनेवाले (२। ४२-४३, ९ । २०-२१) और केवल दम्भ, सत्कार, मान, पूजा और प्रत्युपकार आदिके लिये यज्ञ, तप और दान करनेवाले (१७ । १२,१८,२१)—दोनों प्रकारके राजस पुरुष जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं ।† परंतु तामस यज्ञ और तप करनेवाले (१७ । १३, १९) तामस पुरुष तो अधोगतिमें जाते हैं—'अधो गच्छन्ति तामसाः' (१४ । १८) । 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' (१६ । १६), 'आसुरीष्वेव योनिषु' (१६।१९), 'ततो यान्त्यधमां गतिम्'(१६ । २०) ।

---

* यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
(गीता २ । ४२-४३)

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
(गीता ९ । २०-२१)

† यदि राजस पुरुषोंका दम्भ (१७ । १२, १८) अधिक बढ़ जाय, तो वे नरकोंमें भी जा सकते हैं ।

जो पुरुष यज्ञ करके स्वर्गमें जाते हैं, उन्हें स्वर्गमें भी दुःख, जलन, ईर्ष्या आदि होते हैं।* जैसे—शतक्रतु इन्द्रको भी असुरोंके अत्याचारोंसे दुःख होता है, कोई तपस्या करे तो उसके हृदयमें जलन होती है, वह भयभीत होता है। इसे पूर्वजन्मके पापोंका फल भी नहीं कह सकते; क्योंकि उनके स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो जाते हैं ('पूतपापाः' ९। २०) और वे यज्ञके पुण्योंसे

* स्वर्गमें भी यज्ञ आदि पुण्य-कर्मोंके अनुसार उच्च, मध्यम और कनिष्ठ—ऐसी तीन तरहकी श्रेणियाँ होती हैं। उनमें भी उच्चश्रेणीवाले जब अपने समान श्रेणीवालोंको देखते हैं, तब उन्हें ईर्ष्या होती है कि ये हमारे समान पदमें क्यों आये ? और मध्यम तथा कनिष्ठ श्रेणीवालोंको देखकर उनके मनमें अभिमान होता है कि हम कितने बड़े हैं!

मध्यम श्रेणीवाले जब अपनेसे उच्च श्रेणीवालोंको देखते हैं, तो उनकी भोग-सामग्री, पद, अधिकार आदिको देखकर उन्हें जलन होती है, और कनिष्ठ श्रेणीवालोंको देखकर अभिमान होता है।

कनिष्ठ श्रेणीवालोंमें उच्च और मध्यम श्रेणीवालोंको देखकर असहिष्णुता होती है, जलन होती है कि उनके पास इतनी भोग सामग्री क्यों है ? वे इतने ऊँचे पद-अधिकारपर क्यों गये हैं ? और अपने समान श्रेणीवालोंको देखकर ईर्ष्या होती है कि ये हमारे समान कैसे आकर बैठे हैं, तथा जो स्वर्गमें नहीं आये हैं, उनको देखकर अभिमान होता है कि हम कितने उच्च स्थान—स्वर्गमें हैं।

स्वर्गमें जो स्थिति है, वह भी तो नित्य नहीं है; क्योंकि किसी भी श्रेणीवाले क्यों न हों, पुण्य क्षीण हो जानेपर उनको भी मृत्युलोकमें आना पड़ता है—क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति (गीता ९। २१) और इसकी चिन्ता, इसका भय सदा बना रहता है कि यह स्थिति हमारी रहेगी नहीं, एक दिन चली जायगी।

इससे जितनी शुद्धि होती है, उतनी कर्मोंसे नहीं होती। भगवान्‌ने कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
(मानस ५। ४४। १)

तीसरी बात, गीतामें अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पापका आचरण क्यों करता है? तो उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः' (३। ३७)। तात्पर्य यह कि रजोगुणसे उत्पन्न कामना ही पाप कराती है। इसलिये कामनाको लेकर किये जानेवाले राजस यज्ञकी क्रियाओंमें पाप होते हैं।

राजस तथा तामस यज्ञ आदि करनेवाले आसुरी-सम्पत्तिवाले हैं, और सात्त्विक यज्ञ आदि करनेवाले दैवी-सम्पत्तिवाले हैं; परंतु दैवी-सम्पत्तिके गुणोंमें भी यदि 'राग' हो जाता है, तो रजोगुणका धर्म होनेसे वह राग भी बन्धनकारक हो जाता है।*

सम्बन्ध—

सोलहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें दैवी-सम्पत्ति मोक्षके लिये और आसुरी-सम्पत्ति बन्धनके लिये बतायी है। दैवी-सम्पत्तिको धारण करनेवाले सात्त्विक पुरुष परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे जो यज्ञ, तप और दानरूप कर्म करते हैं, उन कर्मोंमें होनेवाली (भाव, विधि

* तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
(गीता १४। ६)

क्रिया आदिकी) कमीकी पूर्तिके लिये क्या करना चाहिये ? इसे बतानेके लिये भगवान् अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं ।

श्लोक—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

व्याख्या—

'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'—ॐ, तत् और सत्—यह तीन प्रकारका परमात्माका निर्देश है अर्थात् परमात्माके तीन नाम हैं (इन तीनों नामोंकी व्याख्या भगवान्ने अगले चार श्लोकोंमें की है) ।

'ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा'—उस परमात्माने पहले (सृष्टिके आरम्भमें) वेद, ब्राह्मण और यज्ञको बनाया । इन तीनोंमें विधि बतानेवाले वेद हैं, अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मण हैं और क्रिया करनेके लिये यज्ञ हैं । अब इनमें यज्ञ, तप, दान आदिकी क्रियाओंमें कोई कमी रह जाय, तो क्या करें ? परमात्माका नाम लें तो उस कमीकी पूर्ति हो जायगी । जैसे रसोई बनानेवाला जलसे आटा सानता (गूँधता) है, तो कभी उसमें जल अधिक पड़ जाय, तो वह क्या करता है ? आटा और मिला लेता है । ऐसे ही कोई निष्कामभावसे यज्ञ, दान आदि शुभ कर्म करे और उनमें कोई कमी—अङ्ग-वैगुण्य रह जाय, तो जिस भगवान्से यज्ञ आदि रचे गये हैं, उस भगवान्का नाम लेनेसे वह अङ्ग-वैगुण्य ठीक हो जायगा, उसकी पूर्ति हो जायगी ।

श्लोक—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

व्याख्या—

वेदवादीके लिये अर्थात् वेदोंको मुख्य माननेवाला जो वैदिक सम्प्रदाय है, उसके लिये 'ॐ'का उच्चारण करना खास बताया है। अतः वे 'ॐ' का उच्चारण करके ही वेदपाठ, यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि जैसे गायें साँडके विना फलवती नहीं होतीं, ऐसे ही वेदकी जितनी ऋचाएँ हैं, श्रुतियाँ हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण किये विना फलवती नहीं होतीं अर्थात् फल नहीं देतीं।

'ॐ' का सबसे पहले उच्चारण क्यों किया जाता है? कारण कि सबसे पहले 'ॐ'—प्रणव प्रकट हुआ है। उस प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं। उन मात्राओंसे त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है और त्रिपदा गायत्रीसे ऋक्, साम और यजुः—यह वेदत्रयी प्रकट हुई है। इस दृष्टिसे 'ॐ' सबका मूल है और इसीके अन्तर्गत गायत्री भी है तथा सब-के-सब वेद भी हैं। अतः वेदकी जितनी क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण करके ही की जाती हैं।

श्लोक—

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

व्याख्या—

'तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाश्च'—केवल उस परमात्माकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे, किञ्चिन्मात्र भी फलकी इच्छा

...खकर शास्त्रीय यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्म किये जायँ।
...ण कि विहित-निषिद्ध, शुभ-अशुभ आदि यावन्मात्र क्रियाका
...म्भ होता है और उस क्रियाकी समाप्ति होती है। ऐसे
... उस क्रियाका जो फल होता है, उसका भी संयोग होता
... और वियोग होता है अर्थात् कर्मफलके भोगका भी आरम्भ
...होता है और समाप्ति होती है। परंतु परमात्मा तो उस क्रिया
और फलभोगके आरम्भ होनेसे पहले भी हैं तथा क्रिया औ...
फलभोगकी समाप्तिके बाद भी हैं एवं क्रिया और फलभोगके
समय भी वैसे-के-वैसे हैं। उस परमात्माके साथ अपनी नित्य-
निरन्तर अभिन्नता होनेसे अपनी (आत्माकी) सत्ता भी नित्य-
निरन्तर है। नित्य-निरन्तर रहनेवाली उस सत्ताकी तरफ ध्यान
दिलानेमें ही **'तत् इति'** पदोंका तात्पर्य है; और उत्पत्ति-विनाशशील
फलकी तरफ ध्यान न देनेमें ही **'अनभिसंधाय फलम्'** पदोंका
तात्पर्य है अर्थात् नित्य-निरन्तर रहनेवाले तत्त्वकी स्मृति रहनी
चाहिये और फलकी अभिसंधि (इच्छा) बिल्कुल नहीं
रहनी चाहिये।

इससे नित्य-निरन्तर वियुक्त होनेवाले, प्रतिक्षण अभावमें
जानेवाले इस संसारमें जो कुछ देखने, सुनने और जाननेमें आता है,
उसीको हम प्रत्यक्ष, सत्य मान लेते हैं और उसीकी प्राप्तिमें ही
हम अपनी बुद्धिमानी और बलको सफल मानते हैं। इस
परिवर्तनशील संसारको प्रत्यक्ष माननेके कारण ही सदा-सर्वदा सर्वत्र
परिपूर्ण रहता हुआ भी वह परमात्मा हमें प्रत्यक्ष नहीं दीखता

इस वास्ते एक परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर उस संसारका अर्थात् अहंता-ममता (मैं-मेरेपन) का त्याग करके, उन्हींकी दी हुई शक्तिसे, यज्ञ आदिको उन्हींका मानकर निष्कामभावपूर्वक उन्हींके लिये कर देना चाहिये। इसीमें ही मनुष्यकी वास्तविक बुद्धिमानी और बल (पुरुषार्थ) की सफलता है। तात्पर्य यह है कि जो संसार प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है, उसका तो निराकरण करना है और जिसको अप्रत्यक्ष मानते हैं, उस 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका अनुभव करना है, जो नित्य-निरन्तर प्राप्त है।

भगवान्‌के भक्त (भगवान्‌का उद्देश्य रखकर) 'तत्' पदके बोधक राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, वासुदेव, शिव आदि नामोंका उच्चारण करके सब क्रियाएँ आरम्भ करते हैं।

'विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः'—अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुष यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, जप, स्वाध्याय, ध्यान, समाधि आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब भगवान्‌के लिये, भगवत्प्रीत्यर्थ प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌की आज्ञा-पालनके लिये ही करते हैं, अपने लिये नहीं। कारण कि जिनसे क्रियाएँ की जाती हैं, वे शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सभी परमात्माके ही हैं, हमारे नहीं हैं। जब शरीर आदि हमारे नहीं हैं; तो घर, जमीन-जायदाद, रुपये-पैसे, कुटुम्ब आदि भी हमारे नहीं हैं। ये सभी प्रभुके हैं और उनमें जो सामर्थ्य, समझ आदि है, वह भी सब प्रभुकी है और हम खुद भी प्रभुके ही हैं। हम प्रभुके हैं और प्रभु

हमारे हैं—इस भावसे वे सब क्रियाएँ प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही करते हैं।

सम्बन्ध—

चौबीसवें श्लोकमें 'ॐ' की और पच्चीसवें श्लोकमें 'तत्' शब्दकी व्याख्या करके अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें पाँच प्रकारसे सत् शब्दकी व्याख्या करते हैं।

श्लोक—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

व्याख्या—

यहाँ नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मतत्त्वकी सत्ताका नाम 'सद्भाव' है। उस परमात्माकी सम्पत्ति (दैवी-सम्पत्ति) के गुणोंमें दया, क्षमा आदि जितने हृदयके श्रेष्ठ भाव हैं, वे सब-के-सब 'साधुभाव' पदके अन्तर्गत हैं और क्रियारूपमें यज्ञ, दान, स्वाध्याय आदि जितने श्रेष्ठ आचरण हैं, वे सब-के-सब 'प्रशस्त कर्म' पदके अन्तर्गत हैं। उन यज्ञ, दान आदि प्रशस्त, प्रशंसनी कर्मोंमें साधककी जो एक व्यक्तिगत निष्ठा है, स्थिति है, 'सत्' कही जाती है। उन प्रशंसनीय कर्मोंके अलावा खा पीना, उठना-बैठना आदि शारीरिक और खेती, व्यापार अ जीविका-सम्बन्धी जितने कर्म हैं, वे सब-के-सब 'तदर्थ (१७ । २७) पदके अन्तर्गत आते हैं। जो यज्ञ, दान शुभ कर्म अश्रद्धापूर्वक किये जाते हैं, वे सब-के-सब 'अ (१७ । २८) कहे जाते हैं।

'सद्भावे'—'परमात्मा हैं' इस प्रकार परमात्माकी सत्ता (होनेपन) का नाम 'सद्भाव' है। वह परमात्मा सगुण हो या निर्गुण हो, साकार हो या निराकार हो और सगुण-साकारमें भी उसके विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जितने अवतार हैं, वे सब-के-सब 'सद्भाव'के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार जिसका किसी देश, काल, वस्तु आदिमें कभी अभाव नहीं होता, ऐसे परमात्माके जो अनेक रूप हैं, अनेक नाम हैं, अनेक तरहकी लीलाएँ हैं, वे सब-के-सब 'सद्भाव'के अन्तर्गत हैं।

'साधुभावे'—परमात्मप्राप्तिके लिये अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अलग-अलग जितने साधन बताये गये हैं, उनमेंसे हृदयके जो दया, क्षमा आदि श्रेष्ठ, उत्तम भाव हैं, वे सब-के-सब 'साधुभाव' के अन्तर्गत हैं।

'सदित्येतत्प्रयुज्यते'—सत्तामें और श्रेष्ठतामें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है अर्थात् जो सदा है, जिसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी और अभाव नहीं होता—ऐसे परमात्माके लिये और उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये दैवी-सम्पत्तिके जो सत्य, क्षमा, उदारता, त्याग आदि श्रेष्ठ गुण हैं, उनके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है; जैसे—सत्-तत्त्व, सद्गुण, सद्भाव आदि।

'प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते'—परमात्मप्राप्तिके लिये अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अलग-अलग जितने साधन बताये गये हैं, उनमें क्रियारूपसे जितने श्रेष्ठ आचरण हैं, वे सब-के-सब 'प्रशस्ते कर्मणि' के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञोपवीत

विवाह आदि संस्कार; अन्नदान, भूमिदान, गोदान आदि दान; और कुआँ-बावड़ी खुदवाना, धर्मशाला बनवाना, मन्दिर बनवाना, बगीचा लगवाना आदि श्रेष्ठ कर्म भी 'प्रशस्ते कर्मणि' के अन्तर्गत आते हैं। इन सब श्रेष्ठ आचरणोंमें, श्रेष्ठ कर्मोंमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है; जैसे—सदाचार, सत्कर्म, सत्सेवा, सद्व्यवहार आदि।

श्लोक—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

व्याख्या—

'यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते'—यज्ञ, तप और दानरूप प्रशंसनीय क्रियाओंमें जो स्थिति (निष्ठा) होती है, वह 'सत्' कही जाती है। जैसे, किसीकी सात्त्विक यज्ञमें, किसीकी सात्त्विक तपमें और किसीकी सात्त्विक दानमें जो स्थिति—निष्ठा है अर्थात् इनमेंसे एक-एक चीजके प्रति हृदयमें जो श्रद्धा है और इनमें लगनेकी जो तत्परता है, वह 'सन्निष्ठा' (सत्-निष्ठा) कही जाती है।

'च' का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार लोगोंकी सात्त्विक यज्ञ, तप और दानमें श्रद्धा—निष्ठा होती है, ऐसे ही किसीकी वर्णधर्ममें, किसीकी आश्रम-धर्ममें, किसीकी सत्य व्रत-पालनमें, किसीकी अतिथि-सत्कारमें, किसीकी सेवामें, किसीकी आज्ञा-पालनमें, किसीकी पतिव्रत-धर्ममें और किसीकी गङ्गाजीमें, किसीकी यमुनाजीमें, किसीकी

प्रयागराज आदि विशेष तीर्थोंमें जो हृदयसे श्रद्धा है, उनमें जो रुचि, विश्वास और तत्परता है, वह भी 'सन्निष्ठा' कही जाती है।

'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'—उन प्रशंसनीय कर्मोंके अलावा कर्मोंके दो तरहके स्वरूप होते हैं—लौकिक (स्वरूपसे ही संसार-सम्बन्धी) और पारमार्थिक (स्वरूपसे ही भगवत्सम्बन्धी)।

(१) वर्ण और आश्रमके अनुसार जीविकाके लिये यज्ञ, अध्यापन, व्यापार, खेती आदि व्यावहारिक कर्तव्य-कर्म और खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जगना आदि शारीरिक कर्म—ये सभी 'लौकिक' हैं।

(२) जप-ध्यान, पाठ-पूजा, कथा-कीर्तन, श्रवण-मनन, चिन्तन-ध्यान आदि जो कुछ किया जाय, वह 'सब' "पारमार्थिक' है।

इन दोनों प्रकारके कर्मोंको अपने सुख-आराम आदिका उद्देश्य न रखकर निष्कामभाव एवं श्रद्धा-विश्वाससे केवल भगवान्‌के लिये अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ, तो वे सब-के-सब 'तदर्थीय कर्म' हैं। भगवदर्थ होनेके कारण उनका फल 'सत' हो जाता है अर्थात् सत्-स्वरूप परमात्माके साथ सम्बन्ध होनेसे वे सभी दैवी-सम्पत्ति हो जाते हैं, जो मुक्ति देनेवाली है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें आया कि परमात्माके उद्देश्यसे किये गये कर्म 'सत्' हो जाते हैं। परंतु परमात्माके उद्देश्यसे रहित जो कर्म किये जाते हैं, उनकी कौन-सी संज्ञा होगी? इसे अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

व्याख्या—

'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्'—अश्रद्धापूर्वक यज्ञ, दान और तप किया जाय, और **'कृतं च यत्'*** अर्थात् जिसकी शास्त्रमें आज्ञा आती है, ऐसा जो कुछ कर्म अश्रद्धापूर्वक किया जाय—वह सब 'असत्' कहा जाता है।

'अश्रद्धया'पदमें श्रद्धाके अभावका वाचक **'नञ्'** समास है, जिसका तात्पर्य है कि जो लोग परलोक, पुनर्जन्म, धर्म, ईश्वर आदिमें श्रद्धा रखते हैं, उनपर आसुर-लोग श्रद्धा नहीं करते।

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
(मानस ७। ९७। १)

—इस प्रकारके विरुद्ध भाव रखकर वे यज्ञ, दान आदि क्रियाएँ करते हैं।

---

* यहाँ 'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्'—व्याकरणके इस न्यायके अनुसार यज्ञ, दान और तपके साहचर्यसे 'कृतम्' पदसे शास्त्रीय कर्म ही लिये जायँगे।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब वे शास्त्रमें श्रद्धा नहीं रखते, तो फिर वे यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्म क्यों करते हैं ? वे उन शास्त्रीय कर्मोंको इसलिये करते हैं कि लोगोंमें उन क्रियाओंका ज्यादा प्रचलन है, उनको करनेवालोंका लोग आदर करते हैं तथा उनको करना अच्छा समझते हैं। इस वास्ते समाजमें अच्छा बननेके लिये और जो लोग यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्म करते हैं, उनकी श्रेणीमें गिने जानेके लिये वे लोग श्रद्धा न होनेपर भी शास्त्रीय कर्म कर देते हैं।

'असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह'—अश्रद्धापूर्वक जो कुछ कर्म किया जाय, वह सब 'असत्' कहा जाता है। उसका न इस लोकमें फल होता है और न परलोकमें—जन्म-जन्मान्तरमें ही फल होता है। तात्पर्य यह कि सकामभावसे श्रद्धा एवं विधिपूर्वक शास्त्रीय कर्मोंको करनेपर यहाँ धन-वैभव, स्त्री-पुत्र आदिकी प्राप्ति और मरनेके बाद स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है और उन्हीं कर्मोंको निष्कामभावसे श्रद्धा एवं विधिपूर्वक करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्मप्राप्ति हो जाती है; परंतु अश्रद्धापूर्वक कर्म करनेवालोंको इनमेंसे कोई भी फल प्राप्त नहीं होता।

यदि यहाँ यह कहा जाय कि अश्रद्धापूर्वक जो कुछ भी किया जाता है, उसका इस लोकमें और परलोकमें कुछ भी फल नहीं होता, तो जितने पाप-कर्म किये जाते हैं, वे सभी अश्रद्धासे ही किये जाते हैं, तब तो उनका भी कोई फल नहीं होना चाहिये ! और मनुष्य भोग भोगने तथा संग्रह करनेकी इच्छाको लेकर अन्याय,

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें आया कि परमात्माके उद्देश्यसे किये गये **कर्म** *'सत्' हो जाते हैं। परंतु परमात्माके उद्देश्यसे रहित जो कर्म किये जाते हैं, उनकी कौन-सी संज्ञा होगी? इसे अगले श्लोकमें बताते हैं।*

श्लोक—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

व्याख्या—

'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्'—अश्रद्धापूर्वक यज्ञ, दान और तप किया जाय, और **'कृतं च यत्'*** अर्थात् जिसकी शास्त्रमें आज्ञा आती है, ऐसा जो कुछ कर्म अश्रद्धापूर्वक किया जाय—वह सब 'असत्' कहा जाता है।

'अश्रद्धया'पदमें श्रद्धाके अभावका वाचक **'नञ्'** समास है, जिसका तात्पर्य है कि जो लोग परलोक, पुनर्जन्म, धर्म, ईश्वर आदिमें श्रद्धा रखते हैं, उनपर आसुर-लोग श्रद्धा नहीं करते।

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥

(मानस ७। ९७। १)

—इस प्रकारके विरुद्ध भाव रखकर वे यज्ञ, दान आदि क्रियाएँ करते हैं।

---

* यहाँ 'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्'—व्याकरणके इस न्यायके अनुसार यज्ञ, दान और तपके साहचर्यसे 'कृतम्' पदसे शास्त्रीय कर्म ही लिये जायँगे।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब वे शास्त्रमें श्रद्धा नहीं रखते, तो फिर वे यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्म क्यों करते हैं ? वे उन शास्त्रीय कर्मोंको इसलिये करते हैं कि लोगोंमें उन क्रियाओंका ज्यादा प्रचलन है, उनको करनेवालोंका लोग आदर करते हैं तथा उनको करना अच्छा समझते हैं। इस वास्ते समाजमें अच्छा बननेके लिये और जो लोग यज्ञ आदि शास्त्रीय कर्म करते हैं, उनकी श्रेणीमें गिने जानेके लिये वे लोग श्रद्धा न होनेपर भी शास्त्रीय कर्म कर देते हैं।

'असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह'—अश्रद्धापूर्वक जो कुछ कर्म किया जाय, वह सब 'असत्' कहा जाता है। उसका न इस लोकमें फल होता है और न परलोकमें—जन्म-जन्मान्तरमें ही फल होता है। तात्पर्य यह कि सकामभावसे श्रद्धा एवं विधिपूर्वक शास्त्रीय कर्मोंको करनेपर यहाँ धन-वैभव, स्त्री-पुत्र आदिकी प्राप्ति और मरनेके बाद स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है और उन्हीं कर्मोंको निष्कामभावसे श्रद्धा एवं विधिपूर्वक करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्मप्राप्ति हो जाती है; परंतु अश्रद्धापूर्वक कर्म करनेवालोंको इनमेंसे कोई भी फल प्राप्त नहीं होता।

यदि यहाँ यह कहा जाय कि अश्रद्धापूर्वक जो कुछ भी किया जाता है, उसका इस लोकमें और परलोकमें कुछ भी फल नहीं होता, तो जितने पाप-कर्म किये जाते हैं, वे सभी अश्रद्धासे ही किये जाते हैं, तब तो उनका भी कोई फल नहीं होना चाहिये ! और मनुष्य भोग भोगने तथा संग्रह करनेकी इच्छाको लेकर अन्याय,

अत्याचार, झूठ, कपट, धोखेबाजी आदि जितने भी पाप-कर्म करता हैं, उन कर्मोंका फल दण्ड भी नहीं चाहता ! पर वास्तवमें ऐसी बात है नहीं। कारण कि कर्मोंका यह कायदा है कि रागी पुरुष राग-पूर्वक जो कुछ भी कर्म करता है, उसका फल कर्ताके न चाहनेपर भी कर्ताको मिलता ही है। इसलिये आसुरी-सम्पदावालोंको बन्धन और आसुरी योनियों तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है।

छोटा-से-छोटा और साधारण-से-साधारण कर्म भी यदि उस परमात्माके उद्देश्यसे ही निष्कामभावसे किया जाय, तो वह कर्म 'सत्' हो जाता है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो जाता है; परंतु बड़ा-से-बड़ा यज्ञादि कर्म भी यदि श्रद्धापूर्वक और शास्त्रीय विधि-विधानसे सकामभावसे किया जाय, तो वह कर्म भी फल देकर नष्ट हो जाता है, परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला नहीं बनता तथा वे यज्ञादि कर्म यदि अश्रद्धापूर्वक किये जायँ, तो वे सब असत् अर्थात् निष्फल, निरर्थक हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्राप्तिमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, अपितु भावकी ही प्रधानता है।

पूर्वोक्त साधुभाव, प्रशस्त कर्म, सत्-स्थिति और तदर्थीय कर्म—ये सभी परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे अर्थात् 'सत्'—परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाले होनेसे 'सत्' कहे जाते हैं।

अश्रद्धासे किये गये कर्म 'असत्' क्यों होते हैं? वेदोंने, भगवान्‌ने और शास्त्रोंने कृपालुतासे मनुष्योंके कल्याणके लिये ही ये

शुभ कर्म बनाये हैं, पर जो मनुष्य इन तीनोंपर अश्रद्धा करके शुभ कर्म करते हैं, उनके वे सब कर्म 'असत्' हो जाते हैं। इन तीनोंपर की हुई अश्रद्धाके कारण उनको नरक आदि दण्ड मिलने चाहिये; परंतु उनके कर्म शुभ, अच्छे हैं, इस वास्ते उन कर्मोंका कोई फल नहीं होगा—यही उनके लिये दण्ड है।

इस वास्ते मनुष्यको उचित है कि वह यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि शास्त्रविहित कर्मोंको श्रद्धापूर्वक और निष्कामभावसे करे। भगवान्‌ने विशेष कृपा करके मानव-शरीर दिया है और इसमें शुभ कर्म करनेसे अपनेको और सब लोगोंको लाभ होता है। इसलिये जिससे अभी और परिणाममें सबका हित हो—ऐसे श्रेष्ठ कर्तव्य-कर्म श्रद्धापूर्वक और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करते रहना चाहिये।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो
नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

'ॐ तत्सदिति ....श्रीकृष्णार्जुनसंवादे'—इन पदोंकी व्याख्या सोलहवें अध्यायकी पुष्पिकामें देखनी चाहिये।

इस अध्यायमें श्रद्धाके तीन विभाग किये गये हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इस विभागको जो ठीक-ठीक जान लेगा, वह सात्त्विकी श्रद्धाका ग्रहण और राजसी-तामसी श्रद्धाका त्याग कर देगा। राजसी-तामसी श्रद्धाका त्याग करते ही (सात्त्विकी श्रद्धासे) भगवान्‌के साथ स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्धका अनुभव हो जायगा। इसलिये इस अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रयविभागयोग' है।



सत्रहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ सप्तदशोऽध्यायः' के तीन, 'उवाच'के चार, श्लोकोंके तीन सौ अड़तीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ अट्ठावन है।

(२) 'अथ सप्तदशोऽध्यायः' में आठ, 'उवाच'में तेरह, श्लोकोंमें आठ सौ छियानवे और पुष्पिकामें इक्यावन अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग नौ सौ अड़सठ है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उवाच हैं—'अर्जुन उवाच' और 'श्रीभगवानुवाच'।

सत्रहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके अट्ठाईस श्लोकोंमेंसे तीसरे श्लोकके पहले
चरणमें 'भगण' और तीसरे चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'संकीर्ण-
विपुला'; दसवें और बारहवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पचीसवें
छब्बीसवें श्लोकोंके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला
सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '
विपुला'; ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त हो
'भ-विपुला' और उन्नीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्र
होनेसे 'र-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उन्नीस श्लोक
'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।



ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

शास्त्रोंका अवलोकन और महापुरुषोंके वचनोंका श्रवण करके मैं इस निर्णयपर पहुँचा कि संसारमें श्रीमद्भगवद्गीताके समान कल्याणके लिये कोई भी उपयोगी ग्रन्थ नहीं है। गीतामें ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे कोई भी साधन अपनी श्रद्धा, रुचि और योग्यताके अनुसार करनेसे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

अतएव उपर्युक्त साधनोंका तथा परमात्माका तत्त्व रहस्य जाननेके लिये महापुरुषोंका और उनके अभावमें उच्चकोटिके साधकोंका श्रद्धा, प्रेमपूर्वक सङ्ग करनेकी विशेष चेष्टा रखते हुए गीताका अर्थ और भाव सहित मनन करना तथा उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

निवेदक—

कार्तिक शु० ११ सं० २००६ | जयदयाल गोयन्दका

बाँकुड़ा

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते ॥ जय० ॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा ।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा ॥ जय० ॥
निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी ।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी ॥ जय० ॥
राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा ।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा ॥ जय० ॥
आसुरभाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी ।
दैवी सद्गुण-दायिनि हरि-रसिका सजनी ॥ जय० ॥
समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी ।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय० ॥
दया-सुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै ।
हरि-पद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय० ॥

